मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 5 ● वर्ष 1 ● अंक 5 ● मार्च 2011 ● पाँच रुपये ● सोलह पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

पूँजीपतियों और खाते-पीते मध्यवर्ग को ख़ुश करने वाला एक और ग़रीब-विरोधी बजट

सरकारी घाटे का सारा बोझ ग़रीबों पर, अमीरों पर फिर से तोहफ़ों की बौछार

सम्पादकीय अग्रलेख

मनमोहन सिंह और सोनिया गाँधी की जोड़ी बड़ी चालाकी से दोहरी चाल चलते हुए लुटेरे पूँजीपतियों और आम ग़रीब जनता – दोनों को ख़ुश करने की कोशिश में लगी है। एक और यूपीए की अध्यक्ष सोनिया गाँधी और उनके स्वयंभू "युवराज" राहुल गाँधी ग़रीबों के हितैषी होने का दिखावा करते हुए तरह-तरह की हवाई घोषणाएँ करते रहते हैं, दूसरी ओर प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह की सरकार तन-मन-धन से पूँजीपतियों और खाते-पीते मध्यवर्ग की सेवा में लगी हुई है। वित्तीय वर्ष 2011-12 का बजट भी इसी दोहरी चाल का एक नमूना है।

पिछली 28 फ़रवरी को वित्त मन्त्री प्रणव मुखर्जी द्वारा प्रस्तुत बजट में "सामाजिक क्षेत्र", "समावेशन", ग़रीबों, आम आदमी आदि की बातें तो खूब की गयी हैं लेकिन वास्तव में उन्हें कुछ भी नहीं मिला है, उल्टे ग़रीबों-मेहनतकशों पर बोझ और बढ़ाने के इन्तज़ाम कर दिये गये हैं। दूसरी ओर, पूँजीपतियों को ढेर सारी छूटों और रियायतों की सौगात दी गयी है। बजट में महँगाई कम करने और घोर बदहाली में जी रही व्यापक आबादी की मदद के लिए कुछ भी नहीं किया गया। उल्टे, धनाढ्य वर्गों, ख़ासकर कारपोरेट सेक्टर को टैक्सों में तमाम छूटें दी गयी हैं। इससे राजस्व में जो कमी आयेगी उसकी भरपाई करने के लिए अप्रत्यक्ष कर बढ़ा दिये गये हैं जिनका बोझ आम जनता पर ही पड़ेगा और जिनके कारण मुद्रास्फीति तथा महँगाई की स्थिति और गम्भीर हो जायेगी। वित्तीय घाटे को कम करने के लिए इसमें भोजन, खाद और ईंधन पर सब्सिडी कम करने की बात की गयी है जिसका असर भी सीधा ग़रीबों पर ही पड़ना है।

बजट — 2011

इस बजट में सरकार ने अप्रत्यक्ष करों में वृद्धि कर दी है। बजट से पहले ही पेट्रोलियम पदार्थों की क़ीमतें कई बार बढ़ायी जा चुकी हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि खाने, ईंधन, परिवहन, रोज़मर्रा की ज़रूरत की सभी वस्तुएँ, चिकित्सा, दवा, शिक्षा, कपड़े आदि सब कुछ और अधिक महँगे हो जायेंगे। भारत की 90 फ़ीसदी जनता को अपनी कुल आय का लगभग 60 फ़ीसदी हिस्सा खाने पर ख़र्च करना पड़ता है। पहले ही जानलेवा महँगाई से जूझ रही जनता को अन्य बुनियादी आवश्यकताओं की बढ़ी क़ीमतों का भी बोझ उठाना पड़ेगा। इसमें भी सबसे भयंकर मार इस देश की करीब 65 करोड़ खेतिहर और औद्योगिक मज़दूर आबादी पर पड़ेगी। इसके बाद करीब 25 करोड़ निम्न मध्यमवर्गीय आबादी इसकी चपेट में आयेगी। कुल मिलाकर, 90 करोड़ से भी अधिक लोगों के जीवन स्तर में भारी गिरावट आयेगी।

पिछले दिनों प्रधानमन्त्री महोदय कई बार कह चुके हैं कि खाने-पीने की चीज़ों के महँगे होने का कारण यह है कि लोगों की आमदनी बढ़ रही है। अब वित्त मन्त्री ने भी बेशर्मी से यही बात दोहराते हुए फ़रमाया है कि मनरेगा जैसी सरकारी योजनाओं से लोगों की आमदनी बढ़ने के कारण खाने-पीने की चीज़ों की माँग बढ़ गयी है और इसीलिए वे महँगी हो रही हैं। इसलिए महँगाई को कम करने के लिए कुछ भी करने के बजाय वित्त मन्त्री ने खेती की पैदावार बढ़ाने और फ़सल के भण्डारण, प्रसंस्करण तथा परिवहन की सुविधाओं को बेहतर बनाने पर ज़ोर दिया है। इसका सीधा मतलब है कि खेती के कारोबार में लगी देशी-विदेशी बड़ी कम्पनियों को कृषि क्षेत्र में पैठ बनाने के लिए ढेर सारी रियायतें दी जायेंगी और इसके लिए सरकार क़ानून में भी बदलाव लाने वाली है। इस बात को गोल कर दिया गया है कि खाने-पीने की चीज़ों की महँगाई के लिए यही ताक़तें सबसे बढ़कर ज़िम्मेदार हैं। इस महँगाई के दो सबसे बड़े कारण हैं जमाख़ोरी और वायदा कारोबार, यानी सट्टाबाज़ारी। सरकार इन दोनों पर रोक लगाकर बहुत जल्द क़ीमतों को नीचे ला सकती है, लेकिन देशी-विदेशी लुटेरों की सेवा में लगी सरकार भला ऐसा क्यों करेगी? कई बड़े अर्थशास्त्री और खुद सरकारी रिपोर्टों से कई बार यह साफ़ हो चुका है कि देश की भारी ग़रीब आबादी के खाने-पीने में लगातार गिरावट आ रही है। गाँवों और छोटे शहरों में ही नहीं, दिल्ली जैसे शहरों में काम करने वाले मज़दूरों के लिए भी परिवार का पेट भरना मुश्किल होता जा रहा है। फिर भी सरकारी बेशर्मी से यह राग अलापने में लगी है कि ग़रीब ज़्यादा खा रहे हैं इसीलिए महँगाई बढ़ रही है।

(पेज 8 पर जारी)

न्यूनतम मज़दूरी बढ़ी लेकिन किसकी – आपकी या हमारी ?

दिल्ली के विधायकों के वेतन में 300 प्रतिशत वृद्धि और मज़दूरों के वेतन में 15 प्रतिशत की वृद्धि

दिल्ली की मुख्यमन्त्री शीला दीक्षित ने 23 फ़रवरी को बड़े ज़ोर-शोर से मीडिया-कांफ्रेन्स कर मज़दूरों के वेतन में 15 फ़ीसदी बढ़ोत्तरी का ऐलान किया। यह बढ़ोत्तरी 29 रोज़गार सूचियों के लिए है। इसके अनुसार अब अकुशल मज़दूर (हेल्पर) को 234 रुपये प्रतिदिन (6084 प्रतिमाह), अर्द्धकुशल मज़दूर को 259 रुपये प्रतिदिन (6734 प्रतिमाह) तथा कुशल मज़दूर को 284 रुपये (7140 प्रतिमाह) के हिसाब से वेतन मिलेगा। लेकिन सवाल ये है कि कागज़ों पर हुई इस वृद्धि का लाभ मज़दूरों को मिलेगा भी या नहीं?

अगर मज़दूरों के हालात पर नज़र डाली जाये तो मौजूदा समय में दिल्ली में 45 लाख मज़दूरों की संख्या असंगठित क्षेत्र मे कार्यरत है; जिसमें से एक-तिहाई आबादी व्यापारिक प्रतिष्ठानों, होटलों और रेस्तरों आदि में लगी हुई है। करीब 27 प्रतिशत हिस्सा मैन्यूफैक्चरिंग क्षेत्र, यानी कारखाना उत्पादन में लगा हुआ है। जबकि निर्माण क्षेत्र यानी इमारतें, सड़कें, फ्लाईओवर आदि बनाने का काम करने में भी लाखों मज़दूर लगे हुए हैं। ये ज़्यादातर मज़दूर 12-14 घण्टे खटने के बाद मुश्किल से 3000 से 4000 रुपये कमा पाते हैं, यानी मज़दूरों के लिए न्यूनतम मज़दूरी क़ानून या आठ घण्टे के क़ानून का कोई मतलब नहीं रह जाता है बाकी ईएसआई, पीएफ़ जैसी सुविधाएँ तो बहुत दूर की बात है। दिल्ली की शान कही जाने वाली जाने वाली मेट्रो रेल में तो न्यूनतम मज़दूरी की सरेआम धज्जियाँ उड़ाई जाती हैं। वैसे खुद दिल्ली सरकार की मानव विकास रपट 2006 में यह स्वीकार किया गया है कि ये मज़दूर जिन कारख़ानों में काम करते हैं उनमें काम करने की स्थितियाँ इन्सानों के काम करने लायक नहीं हैं। इसकी ताज़ा मिसाल तुगलकाबाद एक्स. की घटना है (देखिये फ़रवरी मज़दूर बिगुल अंक में) जिसमें अवैध फैक्टरी में बॉयलर फटने से 12 मज़दूर मारे गये तथा 6 मज़दूर घायल हो गये है। इतनी बड़ी घटना के बाद भी दोषी मालिक 'सक्षम' दिल्ली पुलिस के हाथ नहीं आया। हाँ, जब इसी मालिक से घूस वसूलनी होती होगी, तब पुलिस उसे पाताल से भी ढूँढ़ निकालती होगी! श्रम विभाग ने खानापूरी के लिए मुआवज़े का नोटिस तो लगा दिया लेकिन घटना के एक महीने बाद भी पीड़ित परिवारों कोई मुआवज़ा नहीं मिला।

साफ़ है कि देश की राजधानी में जब मज़दूर इतनी अमानवीय, नारकीय स्थितियों में काम कर रहे

(पेज 6 पर जारी)

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? (आठवीं किस्त) 9

माँगपत्रक शिक्षणमाला–5 : कार्यस्थल पर सुरक्षा और दुर्घटना की स्थिति में उचित मुआवज़ा हर मज़दूर का बुनियाद है! 10

अरब धरती पर चक्रवाती जनउद्रेक का नया दौर और साम्राज्यवादी सैन्य-हस्तक्षेप 7

ग़द्दार भितरघातियों के विरुद्ध गोरखपुर के मज़दूरों का क़ामयाब संघर्ष 16

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

यहाँ-वहाँ भटकने से नहीं, लड़ने से बदलेंगे हालात

मज़दूर साथियो, 1992 में मैं लुधियाना के एक पावरलूम कारखाने में काम करता था। लुधियाना आये मुझे ज़्यादा दिन नहीं हुए थे। उसी दौरान पावरलूम मज़दूरों की एक बहुत बड़ी हड़ताल हुई, जो लगभग पैंतालिस दिन चली थी। शहर के सारे पावरलूम मज़दूर हड़ताल पर बैठे थे। हमें लगता था कि हड़ताल करके भूखे बैठने से क्या फ़ायदा, चलो, किसी दूसरे शहर में जाकर काम कर लेंगे – भारत तो बहुत बड़ा देश है, कहीं भी काम किया जा सकता है। तो मैं यहाँ से महाराष्ट्र चला गया। वहाँ पर थाने जिले में भिवण्डी शहर है जहाँ पावरलूम का कारोबार होता है। वहाँ पर अपने गाँव-घर के लोग रहते थे। मेरे सामने पहली परेशानी रहने की थी क्योंकि जिस कमरे में गाँव वाले अन्य मज़दूर रहते थे उसमें पहले से ही आठ लोग रहते थे। मैंने सोचा क्यों न एक कमरा किराए पर लिया जाये। मैं अपने गाँव वालों के साथ कमरा देखने गया। बड़ी मुश्किल से एक कमरा मिला जिसे लकड़ी के पटरों को कील से ठोंककर बनाया गया था। उसका फ़र्श भी कच्चा था। जगह-जगह बड़े-बड़े गड्ढे थे। ऊपर से तीन हज़ार रुपये सिक्योरिटी और तीन सौ रुपया किराया। मैं वहाँ नया था। तीन हज़ार रुपये कहाँ से लाता। अगर बात सिर्फ़ किराए की ही होती, तो कोई इन्तज़ाम हो जाता। तब मुझे लगा कि मैं आसमान से गिरकर खजूर पर अटक गया हूँ। लुधियाना में तो एक महीने का एडवांस किराया देने पर कमरा मिल जाता है, लेकिन यहाँ पर पहले ग्यारह महीने का एडवांस किराया देना पड़ रहा था। मैंने कमरे का ख़याल दिल से निकाल दिया। एक तो कमरा भी ठीक नहीं था। दूसरे, मेरे पास इतनी रक़म भी नहीं थी। दिन इसी दौड़-धूप में गुज़र गया। शाम हुई तो गाँव वाले साथियों ने खाना खिला दिया। खाना भिस्ती में खाना था। सारे मज़दूर भिस्ती में ही खाते थे जहाँ एक कमरे में सौ-सौ लोगों को खिलाया जाता था। अगर कोई मेहमान आ जाये तो एक-दो टाइम खाना खाने का पैसा नहीं लगता था। खाने के बाद सोने के लिए मुझे दूसरे मोहल्ले में जाना पड़ा। शान्ति नगर नाम का यह मोहल्ला एक पहाड़ी पर बसा है। पहाड़ी की चढ़ाई चढ़ते हुए मेरा दम फूल गया। वहाँ मज़दूरों के हज़ारों कमरे हैं जिनका रोज़ इसी पहाड़ी पर चढ़ना-उतरना होता है। वहाँ सारे कमरे लकड़ी के पटरों के और कच्चे फ़र्श वाले थे। उसी पहाड़ी पर एक कमरे में मैंने रात गुज़ारी। सुबह दस लीटर वाला गैलन लेकर नीचे से पानी लाना पड़ता था। मैं भी किसी तरह हाँफते-काँपते एक गैलन पानी लेकर आया। उसी में नहाओ, उसी में धोओ। कितनी परेशानी झेलनी पड़ती है हम मज़दूरों को। साथियो, उस दस लीटर पानी से नहाने पर मेरे शरीर का साबुन भी नहीं छूटा। किसी तरह आधा-अधूरा नहाकर मैं सुबह अपने गाँव वाले मज़दूर साथियों के पास गया। साथियों ने मुझे एक कारख़ाने में काम पर लगवा दिया। वहाँ अन्दर ही बावड़ी थी। नहाने-धोने की सुविधा तो थी, मगर पीने का पानी नहीं था। अगर रात के समय किसी को प्यास लग जाये तो सुबह चार बजे होटल खुलने तक प्यासा ही रहना पड़ता था। कारख़ाने की नीचे की मंज़िल में काम होता था। ऊपर एक हॉल था वहीं पर सो जाता था। छुट्टी सिर्फ़ शुक्रवार को दस बजे से पाँच बजे तक होती थी। मैने बड़ी परेशानी से एक साल गुज़ारा। मैं फिर से लुधियाना आकर काम करने लगा। मैंने महाराष्ट्र जाकर सीखा कि हमें यहाँ-वहाँ भागकर अच्छे काम की तलाश करने के बजाय वहीं लड़ना होगा जहाँ हम काम करते हैं। भागने से हमारी समस्या हल नहीं होगी। सारे देश में ही सभी मज़दूरों की समस्या तो एक जैसी ही है। कहीं कुछ कम बुरी है तो कहीं कुछ ज़्यादा। अगर हमारी समस्याएँ साझी हैं तो निदान भी साझा ही होगा।

– इन्द्रजीत, लुधियाना

घुट-घुटकर बस जीते रहना इन्सान का जीवन नहीं है

मैं वैसे तो उत्तर प्रदेश में मैनपुरी के गाँव भुगाँव के रहने वाला हूँ लेकिन आर्थिक तंगी के कारण परिवार सहित दिल्ली की राजा विहार बस्ती में आकर बस गया। गाँव में मैं आटा मिल में काम करता था और परिवार का भरण-पोषण करता था। मिल मालिक ने काम से निकाल दिया तो यह सोचकर यहाँ चला आया कि देश की राजधानी है तो काम मिल ही जायेगा और परिवार भूखों नहीं मरेगा।

राजा विहार में एक छोटे से कमरे में सात लोगों का हमारा परिवार रहता है। दो साल पहले बीमार पड़ गया। अम्बेडकर अस्पताल में इलाज कराने पर कोई फ़ायदा नहीं हुआ तो उसके बाद मेडिकल कैम्प में अपना इलाज करा रहा हूँ। मेरे परिवार में पत्नी और पाँच बच्चे हैं। दो साल से भी अधिक समय से काम नहीं कर रहा हूँ। मेरी पत्नी और बड़ी बेटी बादली औद्योगिक क्षेत्र में काम करती हैं। वहाँ पंखे का पैकिंग मैटीरियल बनता है। पत्नी पैकिंग का काम करती हैं, 8 घंटे के 2000 रुपये मिलते हैं। बड़ी बेटी की उम्र करीब 16 वर्ष है। वह पॉवर प्रेस चलाती है, उसे 2500 रुपये मिलते हैं। 14 वर्ष का बड़ा बेटा थर्मस कम्पनी में काम करता है जिसे 8 घंटे के 1500 रुपये मिलते हैं। उससे छोटा वाला बेटा नेल पॉलिश की कम्पनी में काम करता है जिसे 1200 रुपये मिलते हैं। मेरी दवा का ख़र्च लगभग 4000 रुपये प्रति माह पड़ता है। बहुत ही मुश्किल से गुज़ारा होता है, सोचा था कि छोटे वाले दो बच्चों को स्कूल में डाल देंगे तो कुछ पढ़-लिख लेंगे। लेकिन स्कूल मास्टर ने कहा कि पहले जन्मपत्री लेकर आओ तब नाम लिखा जायेगा, तो नाम भी नहीं लिख पाया। अब बच्चे घर पर ही रहते हैं। हम तो काम पर चले जाते हैं और ये इधर-उधर घूमते रहते हैं।

पत्नी और बच्चों को कम्पनी में काम के लिए सुबह नौ बजे पहुँचना होता है, यदि चार मिनट भी देरी हो जाये तो गार्ड वापस भेज देता है या फिर एक घण्टे के पैसे काट लेता है। शाम को रोज़ ही 5 से 10 मिनट देरी से ही छोड़ता है और लड़कों को तो बात-बात पर गाली देने लगता है। कम्पनी में कोई श्रम क़ानून लागू नहीं होता और सुरक्षा के उपाय भी नहीं हैं। यहाँ लोहा ढालने का काम होता है लेकिन मज़दूरों को दस्ताना तक नहीं दिया जाता और ना ही पीने का साफ़ पानी है। सुरक्षा का इन्तज़ाम ना होने के कारण हाथ-पैर कटना आम बात है।

गाँव से आते समय अपना एक बीघा खेत बेचकर दिल्ली आया था। सोचा था कि दिल्ली आकर बच्चे काम करके अपना गुजारा तो कर ही सकते हैं जबकि गाँव में खेत पर काम करने से ना तो घर का ख़र्चा चल सकता है और ना ही हमारा इलाज हो सकता है। अब गाँव में सिर्फ़ घर ही है, वह भी झोंपड़ी है और जो भी था साथ ले आये थे घर पर कुछ नहीं है। जैसे-तैसे पूरा परिवार काम करके गुजारा कर लेता है। मगर ऐसे ही किसी-न-किसी तरह जीते चले जाने को तो इंसान का जीवन नहीं कहा जा सकता।

– कृपाशंकर,
राजा विहार, बादली औद्योगिक क्षेत्र, दिल्ली-42

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" **– लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है। यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता। बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये। सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर साथियो, 'आपस की बात' आपका पन्ना है। इसमें छापने के लिए अपने कारख़ाने, काम, बस्ती की समस्याओं, हालत के बारे में, अपनी सोच के बारे में या 'मज़दूर बिगुल' के बारे में लिखकर हमें भेजिये।

घोषणापत्र का प्रपत्र : प्रपत्र 4
(नियम 8 के अन्तर्गत)

समाचार पत्र का नाम	मज़दूर बिगुल
पत्र की भाषा	हिन्दी
आवर्तिता	मासिक
पत्र का खुदरा बिक्री मूल्य	पाँच रुपये
प्रकाशक का नाम	कात्यायनी सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ–226006
प्रकाशन का स्थान	निशातगंज, लखनऊ
मुद्रक का नाम	कात्यायनी सिन्हा
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ
मुद्रणालय का नाम	मल्टीमीडियम, 310, संजयगांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ–226016
सम्पादक का नाम	सुखविन्दर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज लखनऊ–226006
स्वामी का नाम	कात्यायनी सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय

मैं कात्यायनी सिन्हा, यह घोषणा करती हूँ कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य हैं।

हस्ताक्षर
(कात्यायनी सिन्हा)
प्रकाशक, मुद्रक, स्वामी

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

- **डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522-2786782**
- **जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)**
- **जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001**
- **जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09910462009,**
- **जनचेतना, लुधियाना – फोन : 09815587807**

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ–226006 फोन : 0522–2335237
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigul@rediffmail.com
मूल्य	: एक प्रति – रु. 5/- वार्षिक – रु. 70/- (डाक ख़र्च सहित)

'मज़दूर बिगुल' द्वारा एक जाँच रिपोर्ट

बादाम उद्योग में मशीनीकरण : मज़दूरों ने क्या पाया और क्या खोया

बिगुल संवाददाता

पिछले अंक में हमने दिल्ली के बादाम प्रसंस्करण उद्योग के मशीनीकरण के बारे में लिखा था। इस मशीनीकरण को लेकर मज़दूरों में एक डर फैला हुआ है। वास्तव में, यह डर बादाम गोदामों के ठेकेदारों द्वारा फैलाया गया डर है। मालिक मज़दूरों के बीच यह बात फैला रहे हैं कि मशीनें लगने के बाद मज़दूर हड़ताल का मज़दूरों को कोई लाभ नहीं मिलेगा; मालिकों द्वारा फैलायी गयी अफ़वाह यह है कि मशीनें आने के बाद अगर हड़ताल होती भी है तो काम मशीनों द्वारा करवा लिया जायेगा। इस अफ़वाह के कारण बादाम मज़दूरों के एक हिस्से में यह बात घर कर गयी है कि अब मज़दूरों की मोलभाव की ताक़त कम हो गयी है और हड़ताल करने पर भी मालिकों पर कोई दबाव नहीं बनाया जा सकेगा। अब मालिक गरज़मन्द नहीं रहा, बल्कि मज़दूर गरज़मन्द हो गया है। लेकिन ऐसा सोचना वास्तव में समझदारी की कमी को दिखलाता है। मालिक तो यह अफ़वाह हर-हमेशा फैलायेगा कि मशीन आने पर मज़दूर की ताक़त कम हो गयी और अब मज़दूर को मालिक की शर्तों पर काम करना पड़ेगा। हम इस वहम को दूर करना ज़रूरी समझते हैं। मज़दूर जब तक इस वहम से बाहर नहीं आयेंगे तब तक वे समझ नहीं पायेंगे कि इस मशीनीकरण के सारे पहलू क्या हैं? उन्हें क्या लाभ हो रहा है और क्या हानि? और वे यह भी नहीं समझ पायेंगे कि आगे किस प्रकार संघर्ष की रणनीति बनायी जाय।

मशीनीकरण पूँजीवादी व्यवस्था की आम प्रवृत्ति है

पहली बात हमें यह समझनी होगी कि किसी भी उद्योग में मालिक हमेशा यह कोशिश करता है कि नयी से नयी तकनीक और नयी से नयी मशीनें आयें। इसका कारण यह होता है कि नयी मशीनों या तकनीकों से मज़दूर की उत्पादकता बढ़ जाती है। पहले मज़दूर एक घण्टे में जितना उत्पादन कर सकता था, अब उससे कहीं ज़्यादा उत्पादन कर सकता है। यानी उतनी ही मज़दूरी में मालिक के लिए ज़्यादा माल पैदा हो सकता है। यह बात आप बादाम उद्योग में भी देख सकते हैं। मशीन एक घण्टे में 20 से 25 बोरी फ्रेश बादाम की गिरी निकालती है और एक घण्टे में 10 से 12 बोरी कठोर गोला बादाम की गिरी निकालती है। हालाँकि, इसके बाद भी सफ़ाई और श्रेणीकरण आदि का काम बाकी रहता है जो मशीनों द्वारा नहीं होता बल्कि महिलाएँ हाथ से करती हैं, लेकिन फिर भी उद्योग की कुल उत्पादकता मशीन के आने से बढ़ती है। वास्तव में, मज़दूर को उत्पादकता बढ़ने के साथ ज़्यादा मज़दूरी मिलनी चाहिए, लेकिन होता इसका उल्टा है। उत्पादकता बढ़ने पर मालिक जो पहला काम करता है, वह होता है मज़दूरों की छँटनी। चूँकि पहले जितना ही उत्पादन अब कम समय और श्रम में किया जा सकता है, इसलिए कुछ मज़दूर बेकार हो जाते हैं। बादाम उद्योग में भी यह हुआ है। करीब 30 से 40 फ़ीसदी मज़दूर अब बेकार हो जायेंगे, और शहर के बेरोज़गार या अर्द्धबेरोज़गार मज़दूरों की श्रेणी में शामिल हो जायेंगे, जो कभी बेलदारी, कभी बादाम सफ़ाई, कभी रिक्शा-ठेला चलाने आदि का काम करेंगे। यही नुकसान है, जो मशीनीकरण के कारण मज़दूरों को होगा। इस प्रकार मशीनीकरण के ज़रिये पूँजीपति श्रम की उत्पादकता बढ़ाकर मज़दूरों के शोषण को बढ़ाता है और कुछ मज़दूरों की छँटनी करके उन्हें बेरोज़गारों की रिज़र्व सेना में शामिल कर देता है। इस रिज़र्व सेना का भय दिखाकर मालिक रोज़गार में लगे मज़दूरों को भी डराता रहता है कि अगर तुम कम मज़दूरी पर काम नहीं करोगे, तो बाहर बेरोज़गार मज़दूर इतनी ही मज़दूरी पर काम करने को तैयार खड़े हैं। यह भय दिखाकर पूँजीपति उत्पादकता बढ़ने के बावजूद वास्तव में मज़दूरी को बढ़ाता नहीं बल्कि कम करता है। यही डर आज एक दूसरे रूप में बादाम मज़दूरों के बीच फैला हुआ है। यह काम पूँजीपति हमेशा करता है। और इसीलिए पूँजीपति इस फ़िराक में रहता है कि नयी मशीनें और तकनोलॉजी लगाकर मज़दूरों पर होने वाले अपने नियमित ख़र्च को कम करे और श्रम की उत्पादकता बढ़ाकर कम मज़दूरों से ही उतना काम करा ले। मशीनीकरण की प्रवृत्ति हर उद्योग में होती है। हर उद्योग में पूँजीपति नयी से नयी मशीनें और तकनोलॉजी लाने का प्रयास करता रहता है, क्योंकि नयी तकनोलॉजी और मशीन श्रम की उत्पादकता को बढ़ाकर पूँजीवादी शोषण को और व्यापक और सघन बनाती हैं।

बादाम उद्योग में भी यह प्रक्रिया देर-सबेर होनी ही थी। अगर कोई ऐसा समझता है कि बादाम उद्योग हमेशा ऐसे ही आदिम रूप में मौजूद रहेगा और उसमें कभी मशीनें नहीं आयेंगी तो यह उसकी मूर्खता है। बादाम मज़दूर यूनियन और साथ ही बिगुल मज़दूर दस्ता बार-बार इस बात की ओर इशारा करता रहा है, कि देर-सबेर इस उद्योग में भी मशीनें आयेंगी और इस उद्योग का मानकीकरण होगा। यही हो रहा है क्योंकि यह होना ही था।

मज़दूरों को क्या लाभ हुआ और क्या हानि?

पहली बात यह कि सभी मज़दूरों को बेवजह हवा-हवाई तरीके से डरे रहने की बजाय ठोस तरीके से यह समझ लेना चाहिए कि इस मशीनीकरण से उन्हें क्या मिला और उन्होंने क्या खोया? बिना कारण डरे रहने से मालिकों की अफ़वाह फैलाने की साज़िश कामयाब होगी और हमारी स्थिति ग़ुलामों से भी बदतर हो जायेगी।

मज़दूरों को मशीनीकरण से सिर्फ़ एक नुकसान है। यह नुकसान यह है कि कुल बादाम मज़दूर आबादी में से कुछ मज़दूर रोज़गार खोयेंगे। यह प्रक्रिया जारी है। इसके कारण तात्कालिक तौर पर मज़दूरों पर असर पड़ेगा। बेरोज़गार हुए मज़दूर जब तक नया काम नहीं पा जाते, उस जगह से कहीं और विस्थापित नहीं हो जाते या बादाम उद्योग में किसी नये विस्तार के कारण अगर श्रम की माँग नहीं बढ़ती, तब तक वे काम में लगे मज़दूरों के मोलभाव की ताक़त को कुछ कम करेंगे। लेकिन यह भी तब होगा जब बादाम मज़दूरों की पूरी आबादी (जो कम में लगे हैं वे भी और जो बेरोज़गार हैं, वे भी) राजनीतिक तौर पर संगठित न हो। ऐसे में मज़दूरों के बीच ही रोज़गार को लेकर होड़ लग जाती है और मज़दूरी इसके कारण नीचे आने लगती है। इस रूप में पूँजीपति को फ़ायदा पहुँचता है। लेकिन अगर बेरोज़गार और रोज़गारशुदा बादाम मज़दूर राजनीतिक तौर पर संगठित हों तो पूँजीपतियों की होड़ कराने की चाल उस हद तक कामयाब नहीं हो पाती है। हाँ, तात्कालिक तौर पर मज़दूरों को कुछ नुकसान ज़रूर पहुँचता है। आज बादाम उद्योग में यही दौर चल रहा है, जब इस तात्कालिक नुकसान के कारण मज़दूरों को ऐसा लग रहा है कि अब मालिक का हाथ ऊपर हो गया है।

लेकिन यह स्थिति कभी भी बहुत लम्बे समय तक नहीं बनी रहती है। नये तरीके से फिर वह दौर आता है जब मालिक ज़रूरतमन्द और गरज़मन्द हो जाता है। यह समझना ज़रूरी है कि ऐसा कब होता है।

मशीनीकरण के तुरन्त बाद जो मज़दूर आबादी बेरोज़गार होती है, वह आने वाले समय में या तो उसी इलाक़े में कोई नया रोज़गार प्राप्त करती है, या फिर दूसरे इलाक़ों में जाने लगती है। हो सकता है कि कुछ बेरोज़गार हुए मज़दूर नोएडा, नांगलोई, नरेला, बुराड़ी, गौंधीनगर, या किसी और औद्योगिक क्षेत्र में चले जायें। यह प्रक्रिया पूरी होने में कुछ समय लगता है। हो सकता है 6 महीने या एक साल। लेकिन देर-सबेर यह प्रक्रिया पूरी हो जाती है। जो मज़दूर कहीं रोज़गार नहीं पाते वे भी उसी इलाक़े में नहीं पड़े रहते हैं। वे या तो गाँव लौट जाते हैं, या किसी और शहर की ओर रुख़ करते हैं, जैसे कि करनाल, लुधियाना, आदि। जब यह प्रक्रिया चल रही होती है, उसी समय उद्योग में बची हुई मज़दूर आबादी स्थिरीकृत हो रही होती है। यानी, जो मज़दूर मशीनीकरण के बाद उद्योग में लगे रहते हैं वे उद्योग में नये सिरे से व्यवस्थित हो जाते हैं।

बादाम उद्योग में भी यह प्रक्रिया घटित होगी। आने वाले समय में जो मज़दूर बादाम उद्योग में लगे रहेंगे वे व्यवस्थित, स्थिरीकृत और संगठित होंगे। यह नयी मज़दूर आबादी बादाम उद्योग में तेज़ी के दौर में फिर से बढ़ेगी और हो सकता है वह पहले जितनी या उससे भी ज़्यादा हो जाये। इसलिए ऐसा भी नहीं है कि जितने मज़दूर मशीनीकरण के बाद बेरोज़गार होंगे, बादाम मज़दूरों की आबादी में से घटेंगे, वे दोबारा कभी बादाम उद्योग में काम नहीं पा सकते। तेज़ी के दौर में ऐसा हो भी सकता है। लेकिन अभी अगर यही मानकर चलते हैं कि 70 फ़ीसदी मज़दूर उद्योग में बचते हैं जबकि 30 फ़ीसदी की बादाम उद्योग से छँटनी हो जाती है। जैसा कि हमने पहले बताया, ये 70 फ़ीसदी बचे हुए मज़दूर कुछ समय के लिए मशीनीकरण के आतंक में रहते हैं और उन्हें लगता है कि मालिक की मोलभाव करने की ताक़त ज़्यादा हो गयी है। इसका कारण यह है कि अभी बादाम उद्योग में बेरोज़गार मज़दूर उपलब्ध होते हैं। लेकिन यह स्थिति लगातार बनी नहीं रहती।

इस सारी उथल-पुथल के व्यवस्थित होने के बाद जो स्थिति पैदा होती है उसमें मज़दूरों के लिए कुछ फ़ायदे की बातें भी हैं।

पहली बात, अब जो मज़दूर आबादी बचेगी वह मशीन पर काम करने वाली मज़दूर आबादी होगी। मालिक हर-हमेशा यह चाहेगा कि उसकी महँगी मशीन बार-बार नये हाथों में न जाये। इस मशीन की क़ीमत 40 हज़ार रुपये हैं। वैसे तो बादाम प्रसंस्करण की इस मशीन को चलाने के लिए किसी बहुत उन्नत तकनीकी कौशल की आवश्यकता नहीं है लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हर सड़क चलता आदमी इसे चला सकता है। मालिक विशेषकर ऐसे मज़दूरों को ही तरजीह देगा जो बादाम उद्योग में ही काम करते रहे हों, और जो बादाम तुड़ाई के बारे में कुछ जानते हों। ऐसे में, मालिक मशीन पर काम करने वाले मज़दूरों की आबादी को स्थायी चाहेगा। वैसे, वह मशीन थोड़े प्रशिक्षण के बाद कोई भी चला सकता है। लेकिन काम के दौड़ने के दौर में मालिक कभी यह नहीं चाहेगा कि मशीन पर वह नया मज़दूर लगाये या मज़दूर बदलता रहे। इसलिए मशीन पर काम करने वाले मशीन ऑपरेटरों की आबादी को मालिक स्थायी ही रखना चाहेगा। और यह मशीन ऑपरेटर मज़दूरों के लिए एक अच्छी बात है। यह उनके मोलभाव की ताक़त को समय बीतने के साथ बढ़ायेगा।

दूसरी बात, मशीन पर सिर्फ़ पुरुष मज़दूर काम करेंगे। कम-से-कम फिलहाल ऐसा ही दिख रहा है। पुरुष मज़दूरों की मोलभाव की ताक़त पूँजीवादी समाज में वैसे भी ज़्यादा होती है। स्त्री और बाल मज़दूरों का श्रम सबसे सस्ता और कमज़ोर स्थिति में होता है और पूँजीपति हर हाल में उसका शोषण करना चाहता है। ऐसे में, बादाम मालिक अब पुरुष मज़दूरों के श्रम पर ज़्यादा निर्भर होंगे। ऐसे में, कुल मिलाकर बादाम मज़दूरों की ताक़त पहले के मुकाबले समय बीतने के साथ बढ़ेगी।

तीसरी बात, बादाम प्रसंस्करण मशीन आने के बाद भी प्रसंस्करण का सारा काम मशीन पर नहीं हो सकता है। अभी इस उद्योग में तकनोलॉजी की जो स्थिति है उसके

(पेज 4 पर जारी)

क्या आपने ये बिगुल पुस्तिकाएँ पढ़ी हैं?

चोर, भ्रष्ट और विलासी नेताशाही
भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र की एक नंगी और गन्दी तस्वीर
रु. 3.00

बोलते आँकड़े, चीख़ती सच्चाइयाँ
नवउदारवादी अर्थनीति के 18 वर्ष – भारत की तरक्की के दावों के ढोल की पोल – समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा
रु. 3.00

राजधानी के मेहनतकश : एक अध्ययन
– अभिनव
रु. 15.00

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?
– अभिनव
रु. 15.00

नेपाली क्रान्ति : इतिहास, वर्तमान परिस्थिति और आगे के रास्ते से जुड़ी कुछ बातें, कुछ विचार
– आलोक रंजन
रु. 55.00

बादाम उद्योग में मशीनीकरण : मज़दूरों ने क्या पाया और क्या खोया

(पेज 3 से आगे)

मद्देनज़र लम्बे समय तक प्रसंस्करण के कई कामों, जैसे सफ़ाई, छँटाई, श्रेणीकरण आदि के लिए स्त्री मज़दूरों की दस्ती मेहनत ही काम आयेगी। ऐसे में, स्त्री मज़दूरों की उद्योग से छँटनी बड़े पैमाने पर नहीं होगी। लेकिन उनके श्रम की क़ीमत और ज़्यादा कम हो जायेगी, उनका शोषण और अधिक बढ़ जायेगा। जैसे कि मशीन से निकले माल की सफ़ाई पर मज़दूरों को प्रति बोरी मात्र एक रुपया प्राप्त होगा। इस दर पर काम होने के साथ स्त्री मज़दूरों का मालिकों के साथ अन्तरविरोध तेज़ी से बढ़ सकता है। उन्हें इस शोषण के विरुद्ध संगठित करना पहले के मुकाबले आसान होगा, बशर्ते कि उनके दिमाग़ से यह बात निकल जाये कि अब उनके मोलभाव करने की कोई ताक़त नहीं रही और वे नयी परिस्थितियों में मौजूद सकारात्मक को भी समझें।

चौथी बात, बादाम प्रसंस्करण उद्योग में मशीनीकरण के साथ ही उसके कारख़ाना अधिनियम के तहत आने का एक बड़ा कारण पैदा हो गया है। पहले बादाम मज़दूर यूनियन ने जब इस उद्योग के ग़ैर-क़ानूनी ढंग से काम करने को लेकर उपश्रमायुक्त से बात की थी, तो उसने यह बात करके मज़दूरों को टरका दिया था कि यह घरेलू उद्योग है और इसके लिए कारख़ाना अधिनियम लागू नहीं हो सकता। हालाँकि यह बात तब भी ग़लत थी क्योंकि ज़्यादातर गोदामों में 20 से ज़्यादा मज़दूर काम करते थे और जिस भी वर्कशाप या कारख़ाने में बीस से ज़्यादा मज़दूर काम करते हों, वह कारख़ाना अधिनियम के तहत आता है, भले ही उसमें मशीन और बिजली कनेक्शन न हो। और अगर मशीन और बिजली कनेक्शन है तब तो 10 मज़दूरों के साथ काम करने पर भी कारखाना अधिनियम लागू होता है। अब अधिकांश गोदामों में मशीनें आ चुकी हैं। क़ानूनी तौर पर मालिक बेहद कमज़ोर है। अगर वह हमारी माँगों पर नहीं मानता है, तो हम उस पर उद्योग के क़ानूनीकरण के लिए संघर्ष का दबाव बना सकते हैं। क़ानून का भय सभी मालिकों में होता है, क्योंकि क़ानून लागू होने पर उनका खर्चा होता है और मुनाफ़े में कमी आती है। बादाम उद्योग में ठेकेदार पहले भी ग़ैर-क़ानूनी तौर पर गोदाम चलवा रहे थे। लेकिन मशीन लगने के बाद तो वे बुरी तरह से फँसेंगे। इसलिए मज़दूरों के पास एक बहुत बड़ा नया हथियार आ गया है। वह हथियार है क़ानूनीकरण के भय का हथियार। अगर मालिक हमें मशीन का भय दिखाता है तो हम उसे नियमितीकरण का भय दिखायेंगे। इसलिए अगर वह एक मायने में ताक़तवर हुआ है तो दूसरे मायने में वह बेहद कमज़ोर हो गया है।

पाँचवी बात यह है कि अभी बादाम उत्पादन पूरी तरह मशीन पर निर्भर नहीं हुआ है। अभी तक मिली ख़बरों के अनुसार करीब 75 फ़ीसदी मालिक मशीन से ज़्यादा काम करवा रहे हैं, जबकि 25 फ़ीसदी मालिक मुख्य तौर पर हाथ से ही काम करवा रहे हैं। इसका एक कारण मशीन से माल का ख़राब होना भी हो सकता है। लेकिन इस कमज़ोरी पर हम बहुत ज़्यादा निर्भर नहीं कर सकते हैं क्योंकि एक बार मशीन के प्रवेश के बाद उद्योग की आम दिशा मशीनीकरण की ही होती है। इसलिए आज मशीनों से काम करवाने में जो भी कमी हो, कल यह कमी दूर हो जायेगी। इस कमी से मज़दूरों को केवल तात्कालिक तौर पर फ़ायदा मिलेगा। असली फ़ायदा ऊपर के चारों कारणों से होगा।

इसलिए मज़दूरों को बेवजह डरना बन्द कर देना चाहिए। उन्हें याद रखना चाहिए कि हाथ से भी वही काम करते थे और मशीनें भी वही चलायेंगे, ठेकेदारों और मालिकों के अमीरज़ादे नहीं! इसलिए चाहे कोई भी मशीन आ जाये, मज़दूरों की ज़रूरत कभी ख़त्म नहीं हो सकती है। चाहे मालिक कुछ भी जादू कर ले, बिना मज़दूरों के उसका काम नहीं चल सकता है। मज़दूर ही मूल्य पैदा करता है। मशीनें भी मज़दूर ही बनाता है और उन्हें चलाता भी मज़दूर ही है। बादाम मालिक मशीनीकरण के साथ कई अर्थों में कमज़ोर हुए हैं। मशीनीकरण इस उद्योग और पूरी मज़दूर आबादी का मानकीकरण करेगा। इस मानकीकरण के चलते मज़दूरों में दूरगामी तौर पर ज़्यादा मज़बूत संगठन और एकता की ज़मीन तैयार होगी, क्योंकि उनके जीवन में अन्तर का पहलू और ज़्यादा कम होगा और जीवन परिस्थितियों का एकीकरण और मानकीकरण होगा। ऐसे में, मज़दूरों के अन्दर वर्ग चेतना और राजनीतिक संगठन की चेतना बढ़ेगी। मालिक मशीन पर काम करने वाले मज़दूर के सामने ज़्यादा कमज़ोर होता है, बनिस्बत हाथ से काम करने वाले मज़दूर के सामने। इसलिए मशीन पर काम करने वाली मज़दूर आबादी ज़्यादा ताक़तवर और लड़ाकू सिद्ध हो सकती है। बादाम मज़दूर यूनियन को इसी दिशा में सोचना होगा और मज़दूरों को यह बात लम्बी प्रक्रिया में समझाते हुए संगठित करना होगा।

आगे की रणनीति क्या हो?

बादाम मज़दूर यूनियन के साथियों के लिए कुछ सुझाव

आगे बादाम मज़दूर यूनियन को मज़दूरों के लिए सभी ताक़तवर पहलुओं पर अपनी रणनीति को केन्द्रित करना चाहिए।

पहली बात, उसे मज़दूरों के उन्नत हिस्से के बीच से सबसे पहले मशीनीकरण से पैदा हुए भय को समाप्त करने के लिए लम्बा प्रचार अभियान चलाना चाहिए। मज़दूरों को यह समझाना होगा कि मशीन भी वही चलायेंगे, मालिक खुद नहीं चलायेगा! मशीन मज़दूर का स्थानापन्न नहीं बन सकती। वह उसके श्रम के गुण और परिमाण को बदल देती है। वह उसके श्रम की आवश्यकता को ही समाप्त नहीं कर देती है।

दूसरी बात, मज़दूरों को यह समझाना होगा कि एक बार स्थिरीकरण होने के बाद, मशीन पर काम करने के अनुभव से लैस मज़दूर आबादी को मालिक बार-बार नहीं बदलना चाहेगा। यह मशीन के लिए भी जोखिम भरा होगा और उत्पादन के लिए भी। इसलिए मशीन चलाने में ज़्यादा कुशलता की आवश्यकता न होने के बावजूद मालिक मशीन पर काम करने वाले मज़दूरों को बार-बार बदलना पसन्द नहीं करेगा और इस रूप में दूरगामी तौर पर उसकी निर्भरता मशीन मज़दूर पर ज़्यादा होगी।

तीसरी बात, मज़दूरों को समझाना होगा कि मशीनीकरण के बाद पूरे उद्योग के क़ानूनीकरण की ज़्यादा मज़बूत ज़मीन पैदा हो गयी है। इससे दो तरह से हमें लाभ मिल सकता है। जब तक श्रम विभाग इस उद्योग का क़ानूनीकरण नहीं करता है, तब तक यूनियन क़ानूनीकरण का डण्डा दिखाकर मालिकों में भय पैदा कर सकती है। और दूसरा फ़ायदा यह कि जब क़ानूनीकरण हो जायेगा तो कई गोदाम बन्द होंगे (जो क़ानूनीकरण का ख़र्च नहीं उठा पायेंगे), लेकिन उनकी जगह कुछ बड़े गोदाम पैदा होंगे जो या तो बड़े ठेकेदार खोलेंगे या सीधे खारी बावली के मालिक। ऐसा होने पर कारख़ानों की संख्या घटेगी, लेकिन मज़दूरों की संख्या में कोई विशेष अन्तर नहीं आयेगा। और इस मज़दूर आबादी के पास क़ानूनीकरण होने के कारण अपने श्रम अधिकारों के लिए लड़ने और उन्हें हासिल करने की ताक़त मौजूद होगी।

चौथी बात, यूनियन को यह बात मज़दूरों को समझनी होगी कि क़ानूनीकरण होने से मज़दूर अपनी यूनियन का पंजीकरण भी करा सकेंगे और मज़दूर की पहचान के नाते मिलने वाले सभी क़ानूनी अधिकारों और सुविधाओं के लिए भी लड़ सकेंगे। इसके अतिरिक्त, अन्य सेक्टरों और उद्योगों में काम करने वाले मज़दूरों के साथ उनकी एकता स्थापित होने की ज़्यादा मज़बूत ज़मीन भी क़ानूनीकरण और क़ानूनी यूनियन के साथ पैदा होगी। यह कुल मिलाकर मज़दूरों की ताक़त को बढ़ायेगा।

पाँचवीं बात, यूनियन को मज़दूरों को यह समझाना होगा कि मशीनीकरण पूँजीवादी समाज की आम प्रवृत्ति है। यह एक ओर तात्कालिक तौर पर पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े को बढ़ाता है, तो दूसरी तरफ़ यही पूँजीवाद की कब्र खोदने वाले सर्वहारा वर्ग को भी ताक़तवर बनाता है। बेरोज़गार होने वाली मज़दूर आबादी पूँजीवाद के लिए दूरगामी तौर पर एक ख़तरा बनती है। मशीनीकरण मज़दूरों की राजनीतिक चेतना को स्वयं नहीं बढ़ाता, लेकिन वह इसकी ज़मीन पैदा करता है क्योंकि वह पूरे उद्योग और मज़दूर आबादी की सम्पूर्ण जीवन स्थितियों का मानकीकरण करता है। मशीनीकरण ने यूनियन के साथियों को पूँजीवाद के बारे में मज़दूरों के उन्नत तबके को शिक्षित करने का एक मूल्यवान अवसर दिया है और उन्हें इस अवसर को क़तई नहीं चूकना चाहिए। इसके लिए पर्चे निकाले जाने चाहिए, मीटिंगें की जानी चाहिए, रचनात्मक पोस्टर लगाये जाने चाहिए और भी तमाम कार्रवाइयाँ की जानी चाहिए।

हमें याद रखना चाहिए कि लेनिन ने ट्रेड यूनियन को पूँजी के हमलों के समक्ष मज़दूर वर्ग के आर्थिक हितों की रक्षा के लिए मज़दूर वर्ग के संगठन के अलावा 'कम्युनिज़्म की पाठशाला' भी कहा है, क्योंकि यहीं पर मज़दूर अपने संगठन को पहचानता है, अपनी वर्ग चेतना उन्नत करता है, और पूँजीवाद की कार्यप्रणाली और उसके रहस्यों को समझता जाता है। यदि कोई ट्रेड यूनियन लगातार आर्थिक मुद्दों पर आन्दोलन और संघर्ष के बारे में सोचेगी तो वह अर्थवाद और अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद के रास्ते पर चल पड़ेगी। बादाम मज़दूर यूनियन के साथियों ने पहले भी राजनीतिक प्रचार के कामों को प्रभावी रूप से हाथ में लिया है। आज उनके सामने आम राजनीतिक प्रचार के लिए एक शानदार ठोस अवसर है। यूनियन के साथियों का यह कार्यभार होगा कि पूँजीवाद की हर आम व ख़ास परिघटना पर मज़दूर वर्ग को राजनीतिक तौर पर शिक्षित-प्रशिक्षित करें, पूँजीवाद को बेनक़ाब करें, और ट्रेड यूनियन के मंच से आर्थिक संघर्ष खड़ा करते हुए भी अर्थवाद का खण्डन करें और राजनीतिक प्रचार करते हुए मज़दूरों को पूँजीवाद-विरोध की मंज़िल तक लायें। बादाम मज़दूर यूनियन के साथियों का इसका अमूल्य अवसर मिला है। इसे हाथ से जानें न दें।

आपस की बात

मज़दूर एकता ज़िन्दाबाद!

साथियो, सन् 1992 के पहले लुधियाना के पावरलूम कारख़ानों में तरह-तरह की यूनियनें बनी। जैसे कि पहले कामरेड भजन सिंह थे, और उनके बाद चन्नी आये। ये लोग कारीगरों से कारख़ानों में हड़ताल करवा देते थे, लेकिन बाद में मालिकों से मिल जाते थे और नाकामयाब-सा समझौता कर लेते थे और कहते थे कि अब कारख़ाना चलाओ। उन दिनों मज़दूरों को छुट्टी-बोनस मिला करता था। 17 सितम्बर, सन् 1992 में सीटू वालों ने यहाँ आकर पावरलूम कारख़ानों में हड़ताल करवायी। यह हड़ताल 45 दिन तक चली। इतनी लम्बी हड़ताल की वजह से और संगठन के मज़बूत न होने की वजह से बीच-बीच में कारीगर काम पर वापस चले गये। इसी बीच मालिकों व यूनियन नेताओं ने आपस में मिलकर समझौता कर लिया और हड़ताल वापस ले ली। ग़रीब मज़दूर करे तो क्या करे। लाचार होकर जो जहाँ काम करता था वहीं काम पर वापस लौट गया। हड़ताल टूटने के बाद तो मज़दूरों पर जैसे कहर ही टूट पड़ा। मालिकों ने छुट्टी का पैसा, सर्विस, बोनस देना बन्द कर दिया। कोई कारीगर विरोध करता तो उसे काम से निकालने की धमकी दी जाती। ज़्यादा बोलता तो काम से निकाल दिया जाता। कारीगरों की मेहनत को और ज़्यादा निचोड़ने के लिए मालिक नये-नये हथकण्डे अपनाने लगे। धागे कम कर दिये जाते और पिच बढ़ा दिये जाते – जहाँ पहले 25 पीस बनते थे वहीं अब उतने ही समय में 20 पीस बन पाते। बढ़ती महँगाई व दिहाड़ी पूरी न पड़ने की वजह से कारीगर दो मशीनों की जगह एक वक़्त में तीन-तीन, चार-चार मशीन चलाने लगे। 12 घण्टे की जगह पर 14 से 16 घण्टे ड्यूटी करने लगे ताकि किसी तरह ख़र्चे पूरे हो सकें।

कारख़ाना मज़दूर यूनियन के आने से पावरलूम कारीगरों में कुछ हिम्मत और एकता बनी। 24 अगस्त से 31 अगस्त तक शक्तिनगर के कारख़ानों और 16 सितम्बर से 30 सितम्बर तक गौशाला, कश्मीर नगर, माधोपुरी के पावरलूम कारख़ानों में मज़दूरों ने शानदार हड़तालें लड़ी हैं। इस दौरान काम तेज़ी पर था। मज़दूरों का पलड़ा इस वजह से भी भारी था लेकिन यह मज़दूरों की एकता ही थी जिसने उन्हें जिताया। मालिक पहले तो झुकने को तैयार ही नहीं हो रहे थे लेकिन 18 वर्षों से खीझे मज़दूरों ने प्रण कर लिया था कि बेशक अन्य कोई काम पकड़ना पड़े, लेकिन हार करके इन मालिकों के पास वापस नहीं जाना है। आख़िरकार मालिकों को मज़दूरों के आगे झुकना ही पड़ा और मज़दूरों के साथ लिखित समझौता करके पीस रेट बढ़ाना पड़ा। शक्तिनगर के मज़दूरों के संघर्ष की जीत की ख़बर ने अन्य इलाक़ों के मज़दूरों को भी जगाया और उन्हें भी हड़ताल के लिए प्रेरित किया। इस संघर्ष ने हमें सिखाया कि एकजुटता में इतनी ताक़त होती है कि नामुमकिन काम मुमकिन हो जाते हैं। हमने सीखा कि सीटू जैसे दलालों से दूर रहो, और क्रान्तिकारी यूनियन बनाओ।

मज़दूर एकता ज़िन्दाबाद!

– घनश्याम पाल लुधियाना

मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन–2011 के तहत करावल नगर में 'मज़दूर पंचायत' का आयोजन

बिन हवा ना पत्ता हिलता है, बिन लड़े ना कुछ भी मिलता है

बिगुल संवाददाता

शहीदेआज़म भगतसिंह, राजगुरू, सुखदेव के 80वें शहादत दिवस पर करावल नगर के न्यू सभापुर इलाक़े में 'मज़दूर पंचायत' का आयोजन किया गया। यह आयोजन **मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन–2011** की तरफ़ से किया गया था। इसमें करावल नगर के तमाम दिहाड़ी, ठेका व पीस रेट पर काम करने वाले मज़दूरों ने भागीदारी की और अपनी समस्याओं को साझा किया।

मालूम हो कि विगत कई माह से **'मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन–2011'** के तहत श्रम क़ानून के अन्तर्गत मज़दूरों को मिलने वाले अधिकारों को लागू कराने और इनमें संशोधन-समीक्षा कराने और नये क़ानून बनाने की लड़ाई छेड़ी जा रही है। 26 माँगों वाले माँगपत्रक को भारत के करोड़ों मज़दूरों की ओर से 1 मई, 2011 को सरकार को सौंपा जायेगा। इसके प्रारम्भिक चरण में मज़दूर लॉजों, डेरे एवं बस्तियों में घर-घर जाकर 'मज़दूर माँगपत्रक' के बारे में बताने एवं मज़दूर परिवार के हस्ताक्षर जुटाने का काम किया जा रहा है। गली-गली में बैठकें करने के साथ ही, पूरे इलाक़े के मज़दूरों के जुटान का कार्यक्रम चलाया जा रहा है। 23 मार्च, 11 को आयोजित 'मज़दूर पंचायत' एक तरह से तमाम पेशों में लगे मज़दूर साथियों का जुटान था। **'मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन–2011'** की करावल नगर समिति की तरफ़ से आयोजित इस मज़दूर पंचायत के लिए कार्यकर्ताओं ने सप्ताह भर पहले से ही तैयारी शुरू कर दी थी।

कार्यक्रम की शुरुआत शंकर शैलेन्द्र के गीत 'भगतसिंह इस बार न लेना काया भारतवासी की, देशभक्ति के लिए तुम्हें फिर सज़ा मिलेगी फाँसी की' के साथ हुई। साथी कपिल ने अपनी बात रखते हुए कहा कि आज हमारी ज़िन्दगी बद से बदतर होती जा रही है। शहीदों के सपनों को आये दिन तार-तार किया जा रहा है। ऐसे में, देश भर के मज़दूरों को एकजुट करने के उद्देश्य से, हर पेशा और क्षेत्र के मज़दूरों की संयुक्त माँगों का माँगपत्रक आज समय की ज़रूरत बन गया है। देशभर की शानो-शौकत मज़दूर की मेहनत के बूते है, लेकिन चीज़ों को बनाने वाले ही उनसे महरूम रह जाते हैं। हम अपने बच्चों को न तो पढ़ा-लिखा सकते हैं, और न ही ठीक तरीक़े से दवा-इलाज़ करा सकते हैं। सारी उम्र पेट का गड्ढा भरने में ही खप जाती है। कागज़ों पर जो क़ानून बनाये गये हैं उसके लिए मज़दूर वर्ग ने संघर्ष किया था, लेकिन आज वे कहीं भी लागू नहीं होते। हम आज भी आठ फुट की कोठरियों में गुलामों की तरह जीने को मज़बूर हैं। ऐसे में, मज़दूर भाईयो, हमें अपनी और अपने बच्चों की ज़िन्दगी को ठीक करने के लिए एक बार फिर से एकजुट होना होगा।

करावल नगर में मज़दूर पंचायत के कुछ दृश्य। पंचायत स्थल पर बने मंच के चारों ओर मज़दूर बैठे थे, आसपास के घरों और छज्जों पर भी लोग बैठे थे।

सिलाई कारीगर राहुल ने कहा कि सुन्दर पोशाकों को बनाने वाले मज़दूरों की ज़िन्दगी फटेहाल है। पीस रेट पर काम होता है और मज़दूर महज़ जीने के लिए 16-16 घण्टा काम करता है। यहाँ पीस रेट तय करने में न्यूनतम मज़दूरी का क़ानून लागू नहीं होता। मज़दूरों का बेइन्तहा शोषण होता है। 'बादाम मज़दूर यूनियन' के करावल नगर के साथी नवीन ने बादाम मज़दूरों की बदहाली का ज़िक्र करते हुए कहा कि जब पूरा बादाम उद्योग ही अवैध उत्पादन तन्त्र के रूप में काम कर रहा है, तो उसमें खटने वाले मज़दूरों के लिए श्रम अधिकारों की बात ही क्या की जाये। बादाम उद्योग का मशीनीकरण शुरू होने के बाद से ही मज़दूर साथियों में अफरा-तफरी का माहौल बना हुआ है। लेकिन बादाम उद्योग का यह मशीनीकरण कई मायनों में मज़दूरों के पक्ष में है। अब हम एकजुट होकर फ़ैक्टरी एक्ट के तहत काम कराने की माँग उठा सकते हैं। काम के घण्टे, ओवरटाइम का भुगतान दुगुनी रेट से एवं ईएसआई, पीएफ की सुविधा की ख़ातिर हमें श्रम विभाग पर दबाव बनाने के लिए आगे बढ़ना होगा। ऐसे में, **माँगपत्रक आन्दोलन–2011** की माँगे हमारी भी माँगे है। हमें नये सिरे से गोलबन्द होने की दिशा में सोचना होगा। मसलन, करावल नगर इलाक़े का मज़दूर संगठन – जिसके बैनर के तले हम करावल नगर के फ़ैक्टरी-कारख़ानों और निमार्ण कार्य के मज़दूरों से लेकर तमाम मज़दूर साथियों को एकजुट किया जा सके। तभी हम इलाक़े में अपनी ताक़त बढ़ा सकते हैं। बिगुल मज़दूर दस्ता के अजय ने कहा कि यूँ तो देश में 260 श्रम क़ानून दर्ज हैं लेकिन सारे क़ानून सिर्फ़ कागज़ों की ही शोभा बढ़ाते हैं। और इनमें से ज़्यादातर पुराने पड़ चुके हैं, इसलिए आज नये श्रम क़ानून बनाने की माँग के साथ ही श्रम विभाग के ढाँचे का जनतान्त्रिकरण करने की माँग भी उठानी होगी जिससे कि इसमें श्रम अधिकारियों के अलावा मज़दूर प्रतिनिधि, क़ानून विशेषज्ञ और जनवादी आन्दोलनों के प्रतिनिधियों को भी शामिल किया जाये। इसके अतिरिक्त कैजुअल, पीस रेट पर काम करने वाले मज़दूरों की माँग, कार्यस्थल की परिस्थतियों को ठीक करने की माँग, प्रवासी मज़दूरों के कार्ड एवं आवास सम्बन्धी माँगों की ख़ातिर हमें **माँगपत्रक आन्दोलन–2011** से जुड़ना होगा। साथियो, सरकार को मज़दूरों का माँगपत्रक सौंपने के लिए आने वाले 1 मई को पूरे परिवार के साथ चलना है।

'माँगपत्रक आन्दोलन–2011' के आन्दोलन में शामिल साथी पवन ने 'एक कथा सुनो रे लोगों' गीत के ज़रिये मज़दूरों के हालात के बारे में बताया। कपिल व अन्य साथियों ने 'अब की लड़ैय्या में मचत घमासान हो' गीत गाकर लोगों का उत्साहवर्द्धन किया।

बिगुल मज़दूर दस्ता के साथी अभिनव ने कहा कि मज़दूर वर्ग की मुक्ति राज-काज और समाज के पूरे ढाँचे पर मज़दूर वर्ग के अधिकार द्वारा ही सम्भव है, लेकिन ऐसा होने तक हम चुप नहीं बैठेंगे। आज मौजूदा क़ानूनों को लागू करवाने और नये श्रम क़ानूनों की माँग की लड़ाई भी मज़दूर वर्ग को लड़नी होगी। सभा का संचालन कर रहे आशीष ने कहा कि माँगपत्रक आन्दोलन के ज़रिये हम अपनी बुनियादी माँगों पर एकजुट होने का रास्ता निकाल सकते हैं। करावल नगर के तमाम मज़दूरों को आज 'करावल नगर मज़दूर यूनियन' के रूप में गोलबन्द होने की सख़्त ज़रूरत है। अगर हमारी माँगें और ज़रूरतें एक बन रही हैं तो हमें एक बैनर तले लामबन्द होना ही होगा। कार्यक्रम का समापन बादाम मज़दूरों के बच्चों द्वारा 'रुके न जो, झुके न जो' गीत के साथ किया गया।

पटना में दो दिवसीय क्रान्तिकारी नवजागरण अभियान

बिगुल संवाददाता

देश के विभिन्न इलाक़ों में क्रान्तिकारी राजनीति का प्रचार-प्रसार करने और लोगों को संगठित करने की मुहिम में एक और डग भरते हुए, 'दिशा छात्र संगठन' और 'नौजवान भारत सभा' के कार्यकर्ताओं ने बिहार के पटना ज़िले में 15 और 16 मार्च को शहीदेआज़म भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव के 80वें शहादत दिवस के मौक़े पर दो दिवसीय क्रान्तिकारी नवजागरण अभियान चलाया।

पिछले क़रीब डेढ़ दशक से दिशा और नौ.भा.स. के कार्यकर्ता देश के विभिन्न इलाक़ों में रेल अभियान, नुक्कड़ सभा, सांस्कृतिक सन्ध्या जैसे आयोजनों के माध्यम से क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार-प्रसार करने की मुहिम में पुरज़ोर तरीक़े से जुटे हुए हैं। इसी क्रम में, पटना में पहली बार चलाये गये इस अभियान में, शहर के स्थानीय छात्र और युवा भी शामिल हुए।

15 मार्च को सीने पर क्रान्तिकारी नवजागरण अभियान बिल्ला लगाये और हाथों में पर्चा लिये, दिशा और नौ.भा.स. के नौ सदस्यीय दस्ते ने अपरान्ह 12 बजे पटना शहर के बीचो-बीच गंगा नदी के साथ लगे हुए अशोक राजपथ मार्ग पर अभियान की शुरुआत की। अभियान के दौरान रास्ते में 'भगतसिंह तुम ज़िन्दा हो, हम सबके संकल्पों में!', 'भगतसिंह का ख़्वाब, इलेक्शन नहीं इन्क़लाब!', 'भगतसिंह का सपना आज भी अधूरा, छात्र और नौजवान इसे करेंगे पूरा!' जैसे नारे गूँजते रहे। इसके बाद क्रान्तिकारी गीत प्रस्तुत किया गया।

फिर लोगों को सम्बोधित करते हुए, इस बात को पुरज़ोर तरीक़े से रखा गया कि भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव, चन्द्रशेखर आज़ाद, बिस्मिल, अश्फाकउल्ला ख़ाँ एवं इनसे जुड़ी पूरी क्रान्तिकारी धारा किसानों, मज़दूरों और देश के ग़रीब मेहनतकश आवाम के बेटे-बेटियों के नायक थे और उनके विचारों को जन-जन तक पहुँचाने और उनके अधूरे सपने को पूरा करने की ज़िम्मेदारी भी इन्हीं के कन्धों पर है। यह भी कहा गया कि अंग्रेज़ों की गुलामी से तो 1947 में छुटकारा मिल गया, पर देश की 85 फ़ीसदी आबादी आज भी देशी पूँजीपतियों के हाथों तबाह-बर्बाद हो रही है और ऐसे में आज फिर से एक नयी आज़ादी की लड़ाई का बिगुल फूँकने की ज़रूरत है, जो पूरे सत्ता की बागडोर मज़दूरों-किसानों के हाथ में सौंप दे। यही हमारे क्रान्तिकारियों का असली सपना था और यही आज देश की ज़रूरत है।

इसी तरह, 16 मार्च को भी नुक्कड़ों-चौराहों पर रुककर अभियान चलाया गया और पर्चा बाँटा गया। लोगों ने बड़ी संख्या में अभियान दस्ते की बात सुनी और पर्चा लिया, और साथ ही अभियान को और आगे बढ़ाने के लिए बढ़-चढ़कर आर्थिक सहयोग भी किया और बहुत से नौजवानों ने संगठन से जुड़ने की मंशा ज़ाहिर की। इस गर्मजोशी भरी प्रतिक्रिया ने अभियानी दस्ते का उत्साहवर्धन किया, और एक बार फिर इस बात को भी रेखांकित किया कि इस देश की मेहनतकश जनता भगतसिंह को आज भी अपना सच्चा नायक मानती है।

मज़दूरी व्यवस्था

• फ्रेडरिक एंगेल्स

पिछले एक लेख में हमने इस समयसिद्ध उक्ति पर विचार किया था, "काम के उचित दिन की उचित मज़दूरी", और इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि वर्तमान सामाजिक अवस्थाओं में काम के दिन की सबसे उचित मज़दूरी अनिवार्य रूप से मज़दूर के उत्पाद के सबसे अनुचित बँटवारे के समान होती है, उस उत्पाद का बड़ा हिसा पूँजीपति की जेब में जाता है, और मज़दूर को उतने से ही गुज़ारा करना पड़ता है जितने से वह खुद को काम करने लायक बनाये रख सके और अपनी नस्ल को बढ़ा सके।

यह राजनीतिक अर्थशास्त्र का एक नियम है, दूसरे शब्दों में, समाज के वर्तमान आर्थिक संगठन का एक नियम है, जो कि कोर्ट ऑफ चांसरी सहित इंग्लैण्ड के सभी सामान्य और वैधानिक क़ानूनों से अधिक शक्तिशाली है। जब तक समाज दो विरोधी वर्गों में बँटा हुआ है – जिसमें एक ओर हैं, उत्पादन के सभी साधनों, ज़मीन, कच्चे माल, मशीनरी पर एकाधिकार रखने वाले पूँजीपति; और दूसरी ओर हैं, उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से पूरी तरह वंचित मेहनतकश, जिनके पास अपनी काम करने की शक्ति के अलावा और कुछ भी नहीं होता; जब तक यह सामाजिक संगठन मौजूद है तब तक मज़दूरी का नियम सर्वशक्तिमान बना रहेगा, और हर दिन उन ज़ंजीरों को और मज़बूत बनाता रहेगा जो मेहनतकश इंसान को खुद अपनी पैदावार का गुलाम बनाये रखती हैं – जिस पर पूँजीपति का एकाधिकार होता है।

इस देश की ट्रेड यूनियनों को इस क़ानून के ख़िलाफ़ लड़ते हुए अब करीब साठ साल हो गये हैं – और नतीजा क्या रहा? क्या वे मज़दूर वर्ग को उन बन्धनों से मुक्त कराने में सफल हुई हैं जिनमें पूँजी – खुद उसके हाथों की पैदावार – ने उसे बाँध रखा है? क्या उन्होंने मज़दूर वर्ग के एक भी तबके को उजरती गुलामों की स्थिति से ऊपर उठने में, उत्पादन के साधनों का, कच्चे माल, औज़ारों, अपने उद्योग में आवश्यक मशीनरी का स्वामी, और इस तरह अपने श्रम की पैदावार का स्वामी बनने में सक्षम बनाया है? सब जानते हैं कि न केवल उन्होंने ऐसा नहीं किया है बल्कि उन्होंने कभी कोशिश ही नहीं की है।

लेकिन इस नाते हम यह नहीं कह सकते कि चूँकि ट्रेड यूनियनों ने ऐसा नहीं किया है इसलिए उनकी कोई उपयोगिता नहीं है। इसके विपरीत, इंग्लैण्ड में, और औद्योगिक उत्पादन करने वाले हर देश में, पूँजी के विरुद्ध मज़दूर वर्ग के हर संघर्ष में ट्रेड यूनियनें उसके लिए ज़रूरी हैं। किसी भी देश में मज़दूरी की औसत दर उस देश में आम जीवन स्तर के अनुसार मज़दूरों की नस्ल को जिन्दा रहने के लिए आवश्यक बुनियादी वस्तुओं के योग के बराबर होती है। यह जीवन स्तर अलग-अलग श्रेणियों के मज़दूरों के लिए अलग-अलग हो सकता है।

मज़दूरी की दर ऊँची बनाये रखने और काम के घण्टे कम करने के संघर्ष में ट्रेड यूनियनों का बहुत बड़ा लाभ यह है कि वे जीवन स्तर ऊँचा बनाये रखने और उसे बेहतर करने में मदद करती हैं। लन्दन के पूर्वी भाग में बहुत से पेशे ऐसे हैं जिनका श्रम राजगीर मिस्त्रियों तथा राजगीर के साथ काम करने वाले मज़दूरों से अधिक कुशल और उनके जैसा कठिन नहीं है, फिर भी वे इसके मुकाबले आधी मज़दूरी ही कमा पाते हैं। क्यों? सिर्फ़ इसलिए क्योंकि एक शक्तिशाली संगठन पहले वाले मज़दूरों को तुलनात्मक रूप से ऊँचा जीवन स्तर बनाये रखने में सक्षम बनाता है जिससे उनकी मज़दूरी निर्धारित होती है – जबकि दूसरे वाले मज़दूरों को असंगठित और कमज़ोर होने के नाते अपने नियोक्ताओं के अपरिहार्य और मनमाने अतिक्रमण का शिकार होना पड़ता है; उनका जीवन स्तर लगातार गिरता जाता है, वे लगातार कम से कम मज़दूरी पर जीना सीख लेते हैं, और उनकी मज़दूरी स्वाभाविक रूप से उस स्तर तक गिर जाती है जिसे उन्होंने खुद पर्याप्त मान लेना सीख लिया है ।

यानी, मज़दूरी का नियम ऐसी रेखा नहीं खींचता जिसमें लचीलापन न हो। यह कुछ सीमाओं के साथ अटल नहीं है। हर समय (महामन्दी को छोड़कर) हर ट्रेड के लिए एक ख़ास दायरा होता है जिसके भीतर दोनों विरोधी पक्षों के संघर्ष के परिणामस्वरूप मज़दूरी की दर में संशोधन हो सकता है। हर मामले में मज़दूरी का निर्धारण सौदेबाज़ी से होता है और सौदेबाज़ी में जो सबसे देर तक और सबसे अच्छी तरह प्रतिरोध करता है उसीके पास अपने देय से अधिक पाने का सबसे अधिक मौक़ा रहता है। अगर कोई अकेला मज़दूर पूँजीपति के साथ सौदेबाज़ी की कोशिश करता है तो वह आसानी से मात खा जाता है और उसे अपनेआप समर्पण करना पड़ता है, लेकिन अगर किसी पेशे के सभी मज़दूर एक शक्तिशाली संगठन बना लेते हैं, अपने बीच से इतना कोष जमा कर लेते हैं जिससे वे ज़रूरत पड़ने पर अपने नियोक्ताओं के ख़िलाफ़ जा सकें, और इस प्रकार इन नियोक्ताओं से एक ताक़त के तौर पर मुक़ाबला करने में सक्षम हो जाते हैं, तभी, और सिर्फ़ तभी, उन्हें वह थोड़ी-सी रक़म मिल सकती है जिसे वर्तमान समाज के आर्थिक संगठन के अनुसार, काम के उचित दिन की उचित मज़दूरी कहा जा सकता है।

ट्रेड यूनियनों के संघर्ष से मज़दूरी का नियम पलट नहीं जाता। इसके विपरीत वे इसे लागू कराती हैं। ट्रेड यूनियनों के प्रतिरोध के बिना मज़दूर को वह भी नहीं मिलता जो मज़दूरी व्यवस्था के अनुसार उसे मिलना चाहिए। ट्रेड यूनियनों के डर से ही पूँजीपति को उसके मज़दूर की श्रम शक्ति का पूरा मूल्य देने के लिए मजबूर किया जा सकता है। आपको सबूत चाहिए? बड़ी ट्रेड यूनियनों के सदस्यों को मिलने वाली मज़दूरी देखिये, और दुख-तकलीफ़ से भरे उस गड्ढे, लन्दन के उस पूर्वी इलाक़े में असंख्य छोटे-छोटे पेशों के कामगारों को मिलने वाली मज़दूरी को देख लीजिए।

इस तरह ट्रेड यूनियनें मज़दूरी व्यवस्था पर हमला नहीं करतीं। लेकिन मज़दूरी कम या ज़्यादा होने से मज़दूर वर्ग की आर्थिक अवनति नहीं होती। यह अवनति इस तथ्य में निहित होती है कि अपने श्रम की पूरी पैदावार प्राप्त करने के बजाय मज़दूर वर्ग को अपनी पैदावार के एक हिस्से से सन्तुष्ट होना पड़ता है जिसे मज़दूरी कहते हैं। पूँजीपति सारी पैदावार को हड़प लेता है (उसी में से वह मज़दूर का भुगतान करता है) क्योंकि श्रम के साधनों पर उसका मालिकाना होता है। और, इसलिए, जब तक मज़दूर वर्ग काम के सभी साधनों – ज़मीन, कच्चा माल, मशीनरी, आदि का – और इस प्रकार अपनी समस्त पैदावार का मालिक नहीं बन जाता तब तक वह वास्तव में मुक्त नहीं हो सकता।

– 'द लेबर स्टैण्डर्ड' अख़बार के 21 मई, 1881 के अंक में प्रकाशित।

न्यूनतम मज़दूरी बढ़ी लेकिन किसकी आपकी या हमारी?

(पेज 1 से आगे)

हैं तो पूरे देश के मज़दूर की दशा क्या होगी। वैसे देश के संविधान में मज़दूरों के हित के लिए 260 श्रम क़ानून बनाये गये हैं लेकिन ये "श्रम क़ानून" "शर्म क़ानून" बनकर रह गये हैं। आज सभी मज़दूर साथी जानते हैं कि सारे श्रम क़ानून ठेकेदारों और मालिकों की जेब में रहते हैं वहीं दूसरी ओर क़ानूनों को लागू करने वाले श्रम विभाग में चपरासी से लेकर अफसरों तक घूस का तन्त्र चलता है। "पैसा फेंको, तमाशा देखो!" और ऐसा भी नहीं है कि इस गोरखधन्धे की ख़बर नेताओं-मन्त्री को न हो। क्योंकि दिल्ली में ही कई बड़े नेताओं की फैक्टरियाँ चल रही है जहाँ कोई श्रम क़ानून लागू नहीं होता। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है दिल्ली के पूर्व श्रममन्त्री मंगतराम सिंघल की बादली में चलने वाली फैक्टरी का जहाँ 3 से 4 हजार रुपये में मज़दूर काम करते हैं।

ऐसे में वेतन वृद्धि की सरकारी घोषणा दिल्ली के लाखों मज़दूरों के साथ एक फूहड़ मज़ाक नहीं तो और क्या है? दूसरी तरफ़ दिल्ली सरकार ने नेताओं के वेतन में 300 प्रतिशत वृद्धि का प्रस्ताव रखा है! इसके अनुसार अब विधायक का वेतन 32,000 रुपये से बढ़कर 1,00,000 रुपये तथा मुख्यमन्त्री का वेतन 55,000 रुपये से बढ़कर 1,30,000 रुपये हो जायेगा। बताने की ज़रूरत नहीं कि इस वेतन बढ़ोत्तरी को सीधे जनता की जेब से ही वसूल किया जायेगा।

साथियो, ये हालात तब हैं जब जनता बढ़ती महँगाई, बेरोज़गारी, बदहाली से त्रस्त है! एक तरफ़ देश में भूख से मौतें हो रही हैं और आम आदमी की थाली सूनी होती जा रही है और दूसरी तरफ़ देश के जनप्रतिनिधि होने का दावा करने वाले नेता-मन्त्री अपनी आने वाली सात पुश्तों के लिए ऐयाशी की मीनारें खड़ी कर रहे हैं। साफ़ है कि बीस वर्षों के उदारीकरण-निजीकरण के दौर में जो तरक्क़ी हुई है, उसका फल ऊपर की 15 फ़ीसदी आबादी को ही मिला है। देश में शहरी और ग्रामीण मज़दूर आबादी उजरती गुलामों जैसा जीवन जीने के लिए मजबूर है।

अगर हम इस असम्भव बात को एक बार मान भी लें कि मज़दूर को वर्तमान न्यूनतम मज़दूरी के अनुसार वेतन मिलने लगे, तो भी मज़दूर की ज़िन्दगी के हालात में कोई ज़मीन-आसमान का अन्तर नहीं आयेगा। वैसे भी आज सरकार जिन मापदण्डों पर न्यूनतम मज़दूरी तय करती है वे नाकाफ़ी और अधूरे हैं क्योंकि इसमें केवल मज़दूर के भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं को ही आधार बनाया जाता है। इसलिए वास्तव में न्यूनतम मज़दूरी रेखा वास्तव में कुपोषण-भुखमरी रेखा है।

ऐसे समय में भारत के मज़दूरों का माँगपत्रक आन्दोलन यह माँग करता हैं कि सरकार अपने 15वें राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (1957) की सिफ़ारिश के अनुसार न्यूनतम मज़दूरी की गणना में प्रत्येक कमाने वाले पर तीन व्यक्तियों के लिए प्रति व्यक्ति 2700 कैलोरी खाद्यान्न, कपड़ा, आवास, ईंधन, बिजली, आदि का ख़र्च शामिल करे। इसके अतिरिक्त शिक्षा, दवा-इलाज, पर्व-त्योहार, शादी एवं बुढ़ापे का ख़र्च भी न्यूनतम मज़दूरी में शामिल होना चाहिए। इसके आधार पर न्यूनतम मज़दूरी 11,000 रुपये तय होनी चाहिए जो एक मज़दूर की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा कर सके।

दूसरी बात यह कि जब तक देश में श्रम विभाग का ढाँचा ग़ैरजनतान्त्रिक और मज़दूर-विरोधी बना रहेगा, तब तक श्रम-क़ानून सिर्फ़ कागज़ों की शोभा बढ़ाने के लिए रहेंगे। इसलिए मज़दूर माँगपत्रक की एक प्रमुख माँग यह भी है कि श्रम-विभाग की कार्यप्रणाली को जनवादी बनाने के लिए संयुक्त जाँच कमेटी (इंस्पेक्टोरेट) का गठन किया जाये जिसमें मज़दूर प्रतिनिधियों, मालिक के प्रतिनिधियों, लेबर इंस्पेक्टर के साथ-साथ नागरिक समाज के प्रतिनिधियों को भी शामिल किया जाना चाहिए।

मेहनतकश साथियो! लम्बे संघर्षों और कुर्बानियों की बदौलत जो क़ानूनी अधिकार हमने हासिल किये थे, उनमें से ज़्यादातर हमसे छीने जा चुके हैं। जो शेष कागज़ों पर मौजूद भी हैं उनका व्यवहार में कोई मतलब नहीं रह गया है। ज़ाहिरा तौर पर, मज़दूर की असली मुक्ति तो मेहनतकश सत्ता के कायम होने पर ही होगी। लेकिन आज चुपचाप अन्याय और अत्याचार सहने से क्या यह बेहतर नहीं कि हम एकजुट होकर अपने हक़-अधिकार की लड़ाई को तेज़ कर दें? इन हक़ों की लड़ाई के लिए मज़दूरों को नये सिरे गोलबन्द और संगठित करना होगा। इसी मकसद से भारत के मज़दूरों का माँगपत्रक आन्दोलन भी शुरू किया गया है। इस माँगपत्रक में 26 श्रेणी की माँगें हैं जो आज भारत के मज़दूर वर्ग की लगभग सभी प्रमुख आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। माँगपत्रक–2011 मज़दूर वर्ग की उन सभी माँगों को देश की पूँजीवादी सरकार के सामने रखता है जिनका वायदा उसने देश के मेहनतकशों से किया है। अगर वे इन वायदों को नहीं निभा सकते तो पूँजीवाद जनतन्त्र की असलियत बेनक़ाब हो जायेगी। अगर सरकार 80 फ़ीसदी जनता से किये गये वायदे भी नहीं निभा सकती है तो फिर उसे जनता का प्रतिनिधि कहलाने का और देश चलाने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है।

– आशु

अरब धरती पर चक्रवाती जनउद्रेक का नया दौर और साम्राज्यवादी सैन्य-हस्तक्षेप

अरुण किशोर नवल

गत वर्ष दिसम्बर महीने में ट्यूनीशिया के एक छोटे से कस्बे सीदी बोज़िद से भड़की चिंगारी ने जनउभार का जो दावानल पैदा किया था, वह जल्दी ही मिस्र से होते हुए समूचे अरब जगत तक फैल गया। अल्जीरिया, यमन, सीरिया, लीबिया, जॉर्डन और बहरीन की सड़कों पर लपटें अभी भी धधक रही हैं।

लेकिन लीबिया पर अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस के हवाई हमलों ने, और कज्जाफ़ी विरोधियों के गठबन्धन को पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियों की सहायता ने क्षेत्रीय समीकरणों में महत्त्वपूर्ण बदलाव के संकेत दिये हैं। साम्रायवादियों की मंशा साफ़ हो चुकी है। जो ब्रिटेन और अमेरिका दशकों से हुस्नी मुबारक जैसे निरंकुश शासक की पीठ पर खड़े थे, उसे उन्होंने न सिर्फ़ मँझधार में छोड़ दिया, बल्कि लोकतन्त्र के पैरोकार बनकर वे उस पर सत्ता छोड़ने के लिए दबाव भी बनाने लगे। ट्यूनिशिया में हबीब बुर्गीवा की जिस रैडिकल बुर्जुआ राष्ट्रवादी पार्टी ने कभी साम्राज्यवाद-विरोधी तेवर दिखलाये थे, उसका तख़्तापलट करने वाला जनरल बेन अली अमेरिका निर्देशित उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों को दो दशकों से लागू करते हुए अत्यन्त निरंकुश दमनकारी और भ्रष्ट सत्ता का संचालक बना रहा। हुस्नी मुबारक की तीस साल पुरानी भ्रष्ट तानाशाह सरकार अरब धरती पर अमेरिका की सबसे विश्वस्त सहयोगी थी। अमेरिका ने इज़रायल के बाद मिस्र की सेना में सबसे अधिक धन लगाया है और मिस्र-इज़रायल सहयोग इज़रायली जियनवादी प्रभुत्व की गारण्टी करने वाली धुरी की कील रही है। लेकिन तूफ़ान के समय नाव का बोझ कम करने के लिए साम्राज्यवादी अपने कुत्तों और मुसाहिबों को पानी में फेंक देने में ज़रा भी हिचक नहीं दिखलाते। बेन अली आज सऊदी अरब के उसी महल में दिन काट रहा है, जहाँ उगाण्डा के तानाशाह इदी अमीन के अन्तिम दिन बीते थे। हुस्नी मुबारक शर्म अल शेख़ के महल में मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है। लेकिन अहम बात यह है कि ट्यूनीशिया या मिस्र की आर्थिक नीतियों में या व्यवस्था में किसी प्रकार के अहम बदलाव के संकेत अभी आश्वासनों और प्रतीक्षा की धुँध में छिपे हुए हैं। बहुत मुमकिन है कि भविष्य में बुर्जुआ संसदीय चुनाव के बाद कोई ऐसी चुनी हुई बुर्जुआ सरकार अस्तित्व में आये जो राष्ट्रीय पूँजी और साम्राज्यवादी हितों की हिफ़ाज़त के प्रति वचनबद्ध बनी रहे और पश्चिमपरस्त उच्च मध्यवर्ग भी जिसे स्वीकार कर ले। अतीत में ऐसा कई बार हो चुका है। दुबालियर, मार्कोस, सुहार्तो और पिनोशे जैसे कई अमेरिका समर्थित तानाशाहों और सैनिक जुण्टाओं के सत्ताच्युत होने के बाद उन देशों में संसदीय चुनाव हुए और बुर्जुआ जनवादी सत्ताएँ अस्तित्व में आयीं, पर उन देशों की नयी सरकारों ने साम्राज्यवादी हितों तथा देशी पूँजी के हितों की हिफ़ाज़त जारी रखी और भूमण्डलीकरण के दौर में नवउदारवादी नीतियों को भरपूर मुस्तैदी के साथ लागू किया। ज़रूरत पड़ने पर, यमन, जॉर्डन और बहरीन जैसे देशों में भी अमेरिका अपने वफ़ादार निरंकुश शासकों से पीछा छुड़ा लेगा। सीरिया में असद की वर्तमान सत्ता निरंकुश होते हुए भी अमेरिका की कठपुतली नहीं है। वह नवउदारवादी नीतियों को अपना चुकी है लेकिन अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ भी उठाती रही है। उस पर लेबनान स्थित हिजबुल्ला के समर्थन का भी आरोप है। यदि सीरिया में जनान्दोलन आगे बढ़ता है तो अमेरिका असद की बाथ पार्टी को सत्ताच्युत करने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखेगा।

लीबिया का मामला थोड़ा अलग है। आज जिस कज्जाफ़ी को सत्ताच्युत करने के लिए अमेरिका और नाटो ताक़तों ने सीधे हवाई हमला बोल दिया है और कज्जाफ़ी-विरोधी ताक़तों को सीधे मदद कर रहे हैं, वह कज्जाफ़ी एक बदला हुआ व्यक्ति है, जिसने इराक़-युद्ध के बाद ही अमेरिका और पश्चिमी ताक़तों के आगे घुटने टेक दिये थे, फिलिस्तीनियों के साथ विश्वासघात कर दिया था और नवउदारवादी आर्थिक नीतियों को भी स्वीकार कर लिया था।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद तीन अलहदा इलाक़ों – साइरेनाइका, ट्राइपोलिटानिया और फेज़्ज़ान को मिलाकर लीबिया का गठन हुआ। यह आज़ादी पाने वाला अफ़्रीका का पहला देश (1951 में) था। दूसरे अरब देशों से अलग, लीबियाई समाज कई छोटे-बड़े क़बीलों में बँटा समाज रहा है। 1951 में सत्तारूढ़ होने वाला शाह इदरीस सेनुस्सी क़बीले का था। अन्य तीन बड़े क़बीले क़दाफ़ा, मग़राहा और वारफल्ला हैं। शाह इदरीस की निहायत भ्रष्ट और पश्चिमपरस्त सत्ता के विरुद्ध जिन "फ्री ऑफिसर्स" ने 1969 में कर्नल कज्जाफ़ी के नेतृत्व में लोकप्रिय सैन्य तख़्तापलट को अंजाम दिया था, उन्हें उपरोक्त तीन क़बीलों का व्यापक समर्थन हासिल था। कज्जाफ़ी, नासिर की सर्व-अरबराष्ट्रवादी विचारधारा, साम्राज्यवाद-विरोधी रैडिकल तेवर और सेक्युलरिज़्म से प्रभावित था। साथ ही, वह इराक़ और सीरिया की बाथ पार्टियों की तरह समाजवाद की भी बातें करता था।

1969 में सत्तारूढ़ होने के बाद कज्जाफ़ी ने देश की तेल-सम्पदा का राष्ट्रीकरण करके साम्राज्यवादी हितों को गम्भीर चोट पहुँचायी। तेल से होने वाली आय का उसने एक हद तक आम लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा उठाने में भी इस्तेमाल किया। लीबिया अकेला अरब देश था जहाँ समाजवादी देशों की तरह शिक्षा, स्वास्थ्य-सेवा और आवास की ज़िम्मेदारी पूरी तरह से सरकार की हो गयी। जीवन-स्तर में गुणात्मक सुधार आया। स्त्री-साक्षरता लीबिया में अन्य अरब देशों से काफ़ी ऊपर थी। लीबिया की प्रति व्यक्ति आय अफ़्रीकी महाद्वीप में सर्वाधिक थी। लीबियाई रेगिस्तान के नीचे के "एक्विफायर्स" से पानी ऊपर निकालकर "मानवनिर्मित नदी" बनाकर रेगिस्तानों को ज़रखेज़ खेतों में बदल देना और त्रिपोली सहित अन्य कई प्रमुख शहरों को पानी पहुँचाना इंजीनियरिंग का एक ऐसा करिश्मा था जो पूरी दुनिया में चर्चा का विषय रहा। कज्जाफ़ी के इन लोकप्रिय क़दमों ने शाह इदरीस समर्थक सेनुस्सी क़बीले की युवा पीढ़ी में भी उसका समर्थन-आधार तैयार कर दिया। फिलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष के अतिरिक्त उसने 'अफ़्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस' और 'आयरिश रिपब्लिकन आर्मी' जैसे संगठनों की भी आर्थिक मदद की। लेकिन ज़मात अब्दुल नासिर के सर्व अरब-राष्ट्रवाद और बाथ पार्टी के "समाजवाद" की ही तरह कज्जाफ़ी भी जितना पश्चिम-विरोधी था, उतना ही कम्युनिज़्म-विरोधी भी था (इराक़, सीरिया, लेबनान, यमन आदि कई देशों में कम्युनिस्ट ताक़तों की प्रभावी उपस्थिति थी)। अपने रैडिकल दिनों में भी उसका स्टैण्ड नाटकीय ढंग से बदलता रहता था। जैसेकि शुरू में उसने सहारवी मुक्ति-संघर्ष का समर्थन किया, लेकिन 1980 के दशक के शुरुआती वर्षों में अपना स्टैण्ड पलट दिया। 1971 में सूडान में हुए कम्युनिस्ट विद्रोह को कुचलने में उसने अहम भूमिका निभायी। विद्रोह के एक नेता को ले जा रहे जहाज़ को उतरने के लिए विवश करने के बाद कज्जाफ़ी ने उसे तथा अन्य दो नेताओं को सूडानी सैनिक तानाशाह जनरल गफ़्फ़ार निमेरी को सौंप दिया था, जिसने तीनों को फाँसी दे दी थी।

कज्जाफ़ी के क्रान्तिकारी तेवर उसी समय ढीले पड़ने लगे, जब अमेरिकी राष्ट्रपति बुश (सीनियर) ने कुवैत पर इराक़ी हमले का दण्ड देने के लिए इराक़ पर हमला बोल दिया था। लीबिया को आतंकवाद-समर्थन की सज़ा देने के लिए अमेरिका ने त्रिपोली पर भी बमबारी की थी जिसमें कज्जाफ़ी की एक बेटी भी मारी गयी थी। इन घटनाओं के बाद, धीरे-धीरे कज्जाफ़ी ने इज़रायल और पश्चिमी देशों के ख़िलाफ़ उग्र बयानबाजियाँ बन्द कर दीं, और फिलिस्तीन के प्रश्न से एकदम मुँह मोड़ लिया। पहले वह नासिर की तरह सर्व-अरब राष्ट्रवाद का नायक बनना चाहता था। अब वह अफ़्रीकी एकता का नया मसीहा बनने की असफल कोशिशों में लग गया। कहने को तो अब भी उसका देश 'सोशलिस्ट पीपुल्स लीबियन अरब जमाहिरिया' कहलाता था और उसकी सैद्धान्तिक रचना "ग्रीन बुक" द्वारा निर्देशित ऐसी प्रत्यक्ष जनवादी शासन-व्यवस्था के दावे अभी भी क़ायम थे जहाँ, ऊपर से नीचे तक सत्ता "पीपुल्स कौंसिलों" के हाथों में थी। बाद में कज्जाफ़ी औपचारिक तौर पर किसी पद पर नहीं रह गया था। उसका सपना राष्ट्रपिता और सिद्धान्तकार बनने का था।

झक्की और अननुमेय कज्जाफ़ी का "समाजवाद" एक निम्न पूँजीवादी रैडिकल का अधकचरा 'यूटोपिया' था, जो दीर्घजीवी नहीं हो सकता था। तेल की कमाई की अकूत दौलत से बेशक उसने कुछ अहम जनकल्याणकारी काम किये, लेकिन मात्र इतने से समाजवाद आगे नहीं जा सकता था। सत्ता की बागडोर यहाँ समाजवादी विचारधारा से निर्देशित सर्वहारा वर्ग की पार्टी के हाथों में नहीं बल्कि एक व्यक्ति-केन्द्रित गुट के हाथों में थी। धीरे-धीरे यह सत्ताधारी गुट, जो साम्राज्यवाद-विरोधी सर्व-अरब राष्ट्रवाद और समाजवादी नारों की लहर पर सवार होकर सत्ता तक पहुँचा था, जनता से कटता चला गया तथा विशेषाधिकार-सम्पन्न एवं निरंकुश होता चला गया। सभी राजकीय उद्यमों और जनकल्याण-कारी कामों के बजट पर इन्हीं का नियन्त्रण था। भ्रष्टाचार और गुटबाजी के साथ ही एक बार फिर क़बीलाई अन्तरविरोधों ने भी सिर उठाया। जिन "पीपुल्स कौंसिलों" को लोकसत्ता का 'ऑर्गन' बताया जाता था, किसी विचारधारात्मक मार्गदर्शक हरावल दस्ते जैसी जैविक संरचना के अभाव में वे कौंसिलें जन-पहलक़दमी और सामूहिक निर्णय का मंच बनने के बजाय भारत के पंचायती राज की ही तरह भ्रष्टाचार का अड्डा और निरंकुश शासक वर्ग का स्थानीय सामाजिक अवलम्ब बनकर रह गयीं। सभी अरब देशों की तरह यहाँ भी 'मुखाबरात' (सीक्रेट पुलिस) का आतंकराज था। विरोध में स्वर उठाना गद्दारी था। शासन में कज्जाफ़ी के बेटों का दख़ल बहुत अधिक था। कालान्तर में कज्जाफ़ी परिवार और निकटवर्तियों ने भी देश से बाहर सम्पत्ति जमा करनी शुरू कर दी।

कज्जाफ़ी इस्लामी कट्टरवाद का विरोधी था, पर वास्तविक सेक्युलरिज़्म के बजाय वह उदारपन्थी इस्लाम को स्वीकार करता था। साम्राज्यवाद और जियनवाद के विरुद्ध वह इस्लामी धार्मिक भावनाओं और नारों का भी इस्तेमाल करता था और इन्हीं का इस्तेमाल वह कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ भी करता था। दूसरी ओर, अलकायदा ने जब उसके विरुद्ध विद्रोह का आह्वान किया तो इस्लामी कट्टरपन्थियों के दमन में भी उसने कोई कोर-कसर नहीं उठा रखी। इत्तेफाक से यह वही समय था जब अमेरिका इस्लामी आतंकवाद के विरुद्ध "युद्ध" का झण्डा उठाये अपने हितसाधन में लगा हुआ था। कज्जाफ़ी को भी इस बहाने अमेरिकी विश्वास जीतने का एक मौक़ा मिला, लेकिन अरब जनता की नज़रों में उसकी साख और अधिक नीचे चली गयी। सद्दाम हुसैन के पतन ने जनता से अलग-थलग पड़ चुके कज्जाफ़ी को और अधिक आतंकित कर दिया। अब वह पश्चिमी ताक़तों के आगे घुटने टेकने को तैयार था। अरब की सड़कों पर कज्जाफ़ी की छवि अब हुस्नी मुबारक या बेन अली जैसे किसी दूसरे भ्रष्ट निरंकुश शासक जैसी ही हो चुकी थी। तस्वीरों में वह अक्सर टोनी ब्लेयर, सिल्वियो बर्लुस्कोनी या निकोलस सारकोजी से गलबहियाँ डाले दिख जाता था। 2008 में कोण्डोलीजा राइस ने लीबिया का दौरा किया और 2009 के रोम सम्मेलन में बराक ओबामा ने कज्जाफ़ी के साथ गर्मजोशी से हाथ मिलाया। लीबिया में लगभग एक दशक से नवउदारवादी आर्थिक नीतियों पर भी तेजी से अमल हो रहा था। विदेशी कम्पनियों के लिए दरवाजे खोल दिये गये थे। तेल के शोधन और विदेश व्यापार में भी विदेशी कम्पनियाँ घुस गयी थीं, लेकिन तेल के कुएँ अभी भी राष्ट्रीय सम्पदा थे। पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियाँ इस तेल-सम्पदा को अब सीधे अपने कब्जे में लेना चाहती थीं। अफ़्रीकी महाद्वीप पर सबसे अधिक तेल लीबिया के पास (44.3 बिलियन बैरल) है और लीबियाई कच्चा तेल सबसे अच्छी श्रेणी का माना जाता है। ट्यूनीशिया और मिस्र की घटनाओं के बाद परिस्थितियाँ उनके लिए अनुकूल थीं। कज्जाफ़ी की नीतियों ने व्यापक जनअसन्तोष पैदा करने के साथ ही पुराने क़बीलाई अन्तरविरोधों को भी भड़का दिया था। आश्चर्य नहीं कि पश्चिम समर्थित विद्रोहियों के मोर्चे का पहला केन्द्र बेन गाजी शहर था, जो पूर्व शासक शाह इदरीस के सेनुस्सी क़बीले का क्षेत्र है।

सत्ता बचाने के लिए कज्जाफ़ी ने पहले तो लोहे के हाथों से विद्रोहियों का दमन किया और एकबारगी उन्हें पीछे धकेल देने में कामयाबी भी हासिल कर ली। लेकिन अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन ने जब विद्रोहियों को खुलकर मदद

(पेज 11 पर जारी)

पूँजीपतियों और खाते-पीते मध्यवर्ग को ख़ुश करने वाला एक और ग़रीब-विरोधी बजट

(पेज 1 से आगे)

वर्ष 2009 में नयी सरकार बनते समय राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा विधेयक का वादा किया गया था। दो वर्ष बाद भी अभी यह वादा ही बना हुआ है। बजट को देखकर तो लगता है कि सरकार इसे चुपचाप ठण्डे बस्ते में डालने का मन बना चुकी है। हालाँकि वित्त मन्त्री ने इस बार भी दोहराया कि सरकार बहुत जल्दी यह विधेयक पेश कर देगी। पहले बताये गये सरकारी अनुमानों के मुताबिक़ इसके लिए खाद्य सब्सिडी को 10,000 करोड़ से लेकर 50,000 करोड़ रुपये तक बढ़ाने की ज़रूरत होगी जो इस पर निर्भर करेगा कि इसका दायरा कितना रखा जाये। लेकिन बढ़ना तो दूर, पिछले बजट की तुलना में इस बार खाद्य सब्सिडी रु. 60,600 करोड़ से घटकर रु. 60,573 करोड़ रह गयी है। तर्क दिया गया है कि राष्ट्रीय पैमाने पर ग़रीबों के लिए खाद्यान्न की गारण्टी करने के लिए सरकार के पास संसाधन नहीं हैं। लेकिन दूसरी ओर 2008-09 में पूँजीपतियों को मन्दी की मार से उबारने के नाम पर दिये गये 'स्टिम्युलस पैकेज' का अधिकांश हिस्सा इस बार भी बजट में बनाये रखा गया है। वर्ष 2009-10 में धनी वर्गों को कुल मिलाकर 4.83 लाख करोड़ रुपये की सहायता और छूटें दी गयी थीं जो वर्ष 2010-11 में बढ़कर 5.11 लाख करोड़ रुपये तक पहुँच गयी। इस बार का आँकड़ा भी लगभग इतना ही पहुँच जायेगा। इसके विपरीत, किसानों और ग़रीबों को राहत देने वाली सब्सिडी की राशि काफ़ी कम है। किसानों को मिलने वाली सब्सिडी का भी बड़ा हिस्सा तो धनी किसान और फ़ार्मर ही हड़प लेते हैं, ग़रीब किसानों को तो इससे कम ही राहत मिलती है। लेकिन सरकार, पूँजीवादी अर्थशास्त्री और उनका भोंपू मीडिया इसे इस रूप में पेश करते हैं कि अमीरों को टैक्स में मिलने वाली छूट "विकास को बढ़ावा देने वाला प्रोत्साहन" कहलाती है जबकि ग़रीबों को थोड़ी राहत देने वाली बची-खुची सब्सिडी भी सरकार पर बोझ बतायी जाती है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली को दुरुस्त करने और खाद्यान्न प्रबन्धन के लिए पिछले चालू वर्ष में सरकार ने सिर्फ़ 4.25 करोड़ रुपये ख़र्च किये। इस बार बड़ी दरियादिली दिखाते हुए इसमें रु. 85 लाख की बढ़ोत्तरी कर दी गयी है। यह देश के 90 करोड़ ग़रीबों के साथ एक घटिया मज़ाक नहीं तो और क्या है? प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जयति घोष ने ठीक ही कहा है कि इतनी रक़म तो देश के कुछ अमीर घराने एक शादी में "खाद्य प्रबन्धन" पर ख़र्च कर देते होंगे।

अब ज़रा मनरेगा पर नज़र डालें। वित्त मन्त्री ने बड़े सन्तोष के साथ घोषणा की कि केन्द्र सरकार मनरेगा के तहत मिलने वाली मज़दूरी को महँगाई के साथ जोड़ने पर सहमत हो गयी है। लेकिन मनरेगा के लिए रु. 40,000 करोड़ के आवण्टन में सिर्फ़ रु. 100 करोड़ की बढ़ोत्तरी की गयी है। मुद्रास्फ़ीति को ध्यान में रखें तो वास्तव में कुल आवण्टन और भी कम हो गया है। फिर भला बढ़ी हुई मज़दूरी कैसे दी जायेगी? यानी सरकार मानकर चल रही है कि गाँव के ग़रीबों के लिए रोज़गार के दिन बढ़ने के बजाय और कम ही होंगे। वैसे भी साल में कम से कम 100 दिन के रोज़गार का वादा तो कहीं भी पूरा नहीं हो रहा है। दूसरे, सरकारी रक़म का बड़ा हिस्सा ग्रामीण क्षेत्र में नौकरशाहों, ठेकेदारों, सरपंचों और तहसीलदारों की जेब में ही जाता है। जनता को तो सिर्फ़ जूठन ही मिलती है। अब यह बची-खुची रक़म भी कम हो जायेगी।

सरकार ने बड़े ज़ोर-शोर से शिक्षा का अधिकार क़ानून पारित किया है। इसकी असलियत पर पहले ही काफ़ी कुछ लिखा जा चुका है। मगर ख़ुद सरकार की घोषणाओं को भी अगर लागू करना हो तो शिक्षा पर ख़र्च बढ़ाने की ज़रूरत होगी। लेकिन प्राथमिक शिक्षा पर सिर्फ़ रु. 2700 करोड़ और माध्यमिक शिक्षा पर रु. 1692 करोड़ बढ़ाये गये हैं। ज़ाहिर है कि इससे आम घरों के बच्चों के लिए शिक्षा की हालत में कोई बदलाव आने से रहा।

यही हाल शोर-शराबे के साथ शुरू किये गये राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन का भी है। इसके लिए महज़ रु. 2600 करोड़ बढ़ाये गये हैं जिसमें विशाल ग्रामीण क्षेत्र की स्वास्थ्य सुविधाओं में कोई ख़ास फ़र्क नहीं पड़ने वाला है। अभी यह योजना सिर्फ़ 500 रुपये महीने पर काम करने वाली महिलाओं (जिन्हें 'आशा' – प्रमाणित सामाजिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता कहते हैं) के काम पर टिकी हुई है। सरकार का इरादा साफ़ है कि आगे भी ऐसा ही चलता रहेगा। सार्वजनिक स्वास्थ्य पर केन्द्र सरकार के ख़र्च – जो पहले ही बेहद कम, महज़ रु. 2767 करोड़ है – में भी रु. 607 करोड़ की और कटौती होने वाली है!

यूपीए की पहली सरकार के साझा न्यूनतम कार्यक्रम में शिक्षा पर ख़र्च को सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के 6 प्रतिशत और स्वास्थ्य पर ख़र्च को जीडीपी के 2.5 प्रतिशत तक बढ़ाने का वादा किया गया था। यह वादा सभी सरकारें आज़ादी के बाद से ही करती रही हैं। लेकिन पिछले बजट तक यह ख़र्च शिक्षा पर 2.98 प्रतिशत और स्वास्थ्य पर महज़ 1.27 प्रतिशत था। वास्तव में अगर किसी क्षेत्र में ठीकठाक बढ़ोत्तरी की गयी है तो वह है रक्षा क्षेत्र, जिसके लिए बजट में 12833 करोड़ रुपये की बढ़ोत्तरी करते हुए 164415 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है जिसमें से लगभग 70 हज़ार करोड़ रुपये सिर्फ़ हथियारों की ख़रीद के लिए हैं। सरकार की प्राथमिकताओं का पता इसी बात से चलता है कि अकेले हथियारों की खरीद पर होने वाला ख़र्च शिक्षा और कृषि क्षेत्र के कुल बजट प्रावधान के बराबर है।

ऐसे में किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि अर्थव्यवस्था की तेज वृद्धि दर के दावों के बावजूद भारत मानव विकास के सूचकांक पर 169 देशों की सूची में अभी भी 119वें पायदान पर है और शिक्षा तथा स्वास्थ्य जैसे कई मामलों में पाकिस्तान, श्रीलंका और बंगलादेश जैसे देशों से भी पीछे है। भारत में स्वास्थ्य पर सार्वजनिक बजट इतना कम है कि यहां की स्वास्थ्य सेवा दुनिया की सबसे अधिक निजीकृत सेवा है। विश्व बैंक के मुताबिक़, भारत में स्वास्थ्य पर ख़र्च होने वाले हर सौ रुपये में से लगभग 90 रुपये लोगों को अपनी जेब से देने पड़ते हैं जबकि सार्वजनिक व्यय से सिर्फ़ 10 रुपये आते हैं।

पिछले बजट में सरकार ने सभी सार्वजनिक क्षेत्रों से विनिवेश करके 40,000 करोड़ रुपये जुटाये थे, यानी जनता की गाढ़ी कमाई से खड़े किये गये सरकारी उपक्रमों को पूँजीपतियों और कारपोरेट घरानों के हाथों औने-पौने दामों पर बेचकर यह रक़म जुटायी गयी। इस बजट में विनिवेश से 48,000 करोड़ रुपये जुटाने का लक्ष्य रखा गया है। इस रक़म को वापस जनता की सेवा में लगाने की बजाय बड़े उद्योगों के लिए ज़रूरी आधारभूत ढाँचा बनाने पर ख़र्च किया जायेगा। यानी एक्सप्रेस वे और आठ लेन की सड़कें बनाने, पूँजीपतियों को सरकारी बैंकों से बेहद कम ब्याज़ दरों पर कर्ज़ देने, कारपोरेट घरानों की कर्ज़ माफ़ी के लिए रक़म जुटाने और नेताशाही-अफ़सरशाही की ऐयाशियों पर यह पूरी रक़म ख़र्च की जायेगी, जो वास्तव में इस देश की ग़रीब जनता का पैसा है।

उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के पिछले दो दशकों में बजट का कोई ख़ास मतलब नहीं रह गया है। सरकारें बजट के बाहर जाकर पूँजीपतियों को फ़ायदा पहुँचाने वाली ढेर सारी योजनाएँ और नीतियों में बदलाव लागू करती रहती हैं। कई महत्त्वपूर्ण नीतिगत बदलावों की घोषणा तो सीधे फ़िक्की, एसोचैम या सीआईआई जैसी पूँजीपतियों की संस्थाओं के मंचों से कर दी जाती है। इस मामले में संसदीय वामपंथियों सहित किसी चुनावी पार्टी को कोई परेशानी नहीं होती है। फिर भी बजट से सरकार की मंशा और नीयत तो पता चल ही जाती है। हर वर्ष की तरह इस वर्ष के बजट और उस पर संसद में हुई नौटंकीभरी चर्चा ने भी साफ़ कर दिया है कि पूँजीपतियों की चाकरी में जुटे देश के हुक्मरान समझते हैं कि मेहनतकशों की हड्डी-हड्डी निचोड़कर देशी-विदेशी लुटेरों के आगे परोसने का उनका यह खेल बदस्तूर चलता रहेगा और लोग चुपचाप बर्दाश्त करते रहेंगे। मिस्र, ट्यूनीशिया और पूरे अरब जगत में लगी आग से लगता है उन्होंने कोई सबक़ नहीं सीखा है।

कौन उठाता है करों का बोझ

ज़्यादातर मध्यवर्गीय लोगों के दिमाग में यह भ्रम जड़ जमाये हुए है कि उनके और अमीर लोगों के चुकाये हुए करों की बदौलत ही सरकारों का कामकाज चलता है। प्राय: कल्याणकारी कार्यक्रमों या ग़रीबों को मिलने वाली थोड़ी-बहुत रियायतों पर वे इस अन्दाज़ में गुस्सा होते हैं कि सरकार उनसे कर वसूलकर लुटा रही है।

करों के बोझ के बारे में यह भ्रम सिर्फ़ आम लोगों को ही नहीं है। तमाम विश्वविद्यालयों के अर्थशास्त्र विभागों में भी प्रोफ़ेसरान इस किस्म के अमूर्त आर्थिक मॉडल पेश करते हैं जिनमें यह मानकर चला जाता है कि ग़रीब कोई कर नहीं चुकाते और सिर्फ़ सरकारी दान बटोरते रहते हैं जिसके लिए पैसा अमीरों पर टैक्स लगाकर जुटाया जाता है।

सच्चाई इसके ठीक विपरीत है। हक़ीक़त यह है कि आम मेहनतकश आबादी से बटोरे गये करों से पूँजीपतियों को मुनाफ़ा पहुँचाया जाता है और समाज के मुट्ठीभर उपभोक्ता वर्ग को सहूलियतें मुहैया करायी जाती हैं। टैक्स न केवल बुर्जुआ राज्य की आय का मुख्य स्रोत है बल्कि यह आम जनता के शोषण और पूँजीपतियों को मुनाफ़ा पहुँचाने का एक ज़रिया भी है। सरकार के ख़ज़ाने में पहुँचने वाले करों का तीन-चौथाई से ज़्यादा हिस्सा आम आबादी पर लगे करों से आता है जबकि एक चौथाई से भी कम निजी सम्पत्ति और उद्योगों पर लगे करों से।

भारत में कर राजस्व का भारी हिस्सा अप्रत्यक्ष करों से आता है। केन्द्र सरकार के कर राजस्व का लगभग 70 प्रतिशत से ज़्यादा अप्रत्यक्ष करों से आता है। राज्य सरकारों के कुल कर संग्रह का 95 प्रतिशत से भी ज़्यादा अप्रत्यक्ष करों से मिलता है। इस तरह केन्द्र और राज्य सरकारों, दोनों के करों को मिलाकर देखें तो कुल करों का लगभग 80 प्रतिशत अप्रत्यक्ष कर (बिक्री कर, उत्पाद कर, सीमा शुल्क आदि) हैं जबकि सिर्फ़ 18 प्रतिशत प्रत्यक्ष कर (आयकर, सम्पत्ति कर आदि)।

कुछ लोग तर्क देते हैं कि अमीर या उच्च मध्यवर्ग के लोग ही अप्रत्यक्ष करों का भी ज़्यादा बोझ उठाते हैं क्योंकि वे उपभोक्ता सामग्रियों पर ज़्यादा ख़र्च करते हैं। यह भी सच नहीं है। लगभग 85 प्रतिशत आम आबादी अपनी रोज़मर्रा की चीज़ों की ख़रीद पर जो टैक्स चुकाती है उसकी कुल मात्रा मुट्ठीभर ऊपरी तबके द्वारा चुकाये करों से कहीं ज़्यादा होती है। इससे भी बढ़कर यह कि आम मेहनतकश लोगों की आय का ख़ासा बड़ा हिस्सा करों के रूप में सरकार और पूँजीपतियों-व्यापारियों के बैंक खातों में वापस लौट जाता है।

उस पर तुर्रा यह है कि सरकार पूँजीपतियों को तमाम तरह के विशेषाधिकार और छूटें देती है। उन पूँजीपतियों को जो तमाम तरह की तिकड़मों, फ़र्ज़ी लेखे-जोखे आदि के ज़रिए अपनी कर-योग्य आय का भारी हिस्सा छुपा लेते हैं। इसके लिए वे मोटी तनख़्वाहों पर वकीलों और टैक्स विशेषज्ञों को रखते हैं। उसके बाद जितना टैक्स उन पर बनता है, उसका भुगतान भी वे प्राय: कई-कई साल तक लटकाये रखते हैं और अकसर उन्हें पूरा या अंशत: माफ़ कराने में भी कामयाब हो जाते हैं।

आम लोगों को शिक्षा, चिकित्सा, आदि के लिए दी जाने वाली सब्सिडियों को लेकर मचाये जाने वाले तमाम शोर-शराबे के बावजूद वास्तविकता यह है कि आज भी भारी पैमाने पर सब्सिडी उद्योगों को दी जाती है। इसके अलावा आम लोगों से उगाहे गये करों से पूँजीपतियों के लाभार्थ अनुसन्धान कार्य होते हैं, उनके प्रतिनिधिमण्डलों के विदेशी दौरे कराये जाते हैं, मुख्यत: उनकी सुविधा के लिए सड़कें और नयी रेलें बिछायी जाती हैं, रेलों में माल ढुलाई पर भारी छूट दी जाती है, आदि। मन्दी की मार से पूँजीपतियों को हुए नुकसान की भरपाई के लिए सरकार ने उन्हें हज़ारों करोड़ रुपये उठाकर दे दिये। उन्हें जो कर चुकाने पड़ते हैं उसकी वसूली भी वे चीज़ों के दाम बढ़कर आम जनता से कर लेते हैं।

पिछले दो दशकों में उदारीकरण की नीतियों के तहत एक ओर जनता पर करों का बोझ तमाम तिकड़मों से बढ़ाया जाता रहा है, दूसरी ओर मीडिया में आक्रामक और झूठ से भरे प्रचार से ऐसा माहौल बनाया गया है मानो देश की आर्थिक दुरवस्था का कारण शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि आदि में दी जाने वाली सब्सिडी ही हो। लेकिन इसकी क़ीमत पर हर बजट में देशी-विदेशी पूँजीपतियों को तरह-तरह की रियायतें और छूटें परोसी जा रही हैं। सरकारी विशेषज्ञ और बुर्जुआ कलमघसीट दलील दिये जा रहे हैं कि सरकार का काम सरकार चलाना है, स्कूल, रेल, बस और अस्पताल चलाना नहीं, इसलिए इन सबको निजी पूँजीपतियों के हाथों में सौंप देना चाहिए। दूसरी ओर सरकार दोनों हाथों से आम लोगों से टैक्स वसूलने में लगी हुई है।

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? (आठवीं किस्त)

● आलोक रंजन

इस धारावाहिक लेख की चौथी किस्त 'नयी समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' अख़बार के अन्तिम अंक (जून, 2010) में प्रकाशित हुई थी। उसी अख़बार के उत्तराधिकारी के रूप में नवम्बर 2010 में जब 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन शुरू हुआ तो प्रवेशांक में कुछ अपरिहार्य कारणों से इस लेख की अगली किस्त नहीं दी जा सकी। दिसम्बर 2010 अंक से पुनः इस धारावाहिक लेख का प्रकाशन शुरू किया गया है। – सम्पादक

डॉ. अम्बेडकर और भारतीय संविधान

जो समाज जितना ही पिछड़ा हुआ, अतार्किक और अन्धविश्वासी होता है, उसमें देव-पूजा, डीह-पूजा, नायक-पूजा की प्रवृत्ति उतनी ही गहराई से जड़ें जमाये रहती है। 'जीवित' और प्रश्नों से ऊपर उठे "देवताओं" के सृजन से कुछ निहित स्वार्थों वाले व्यक्तियों का भी हित सधता है, प्रभावशाली सामाजिक वर्गों का भी और सत्ता का भी। शासक तबक़ों द्वारा देव-निर्माण और पन्थ-निर्माण की संस्कृति से प्रभावित शासित भी अक्सर सोचने लगते हैं कि उनका अपना नायक हो और अपना 'पन्थ' हो। इसके लिए कभी-कभी किसी ऐसे पुराने धर्म को जीवित करके भी, जिसके साथ अतीत में उत्पीड़ितों का पक्षधर होने की प्रतिष्ठा जुड़ी हो, उत्पीड़ित जन यह भ्रम पाल लेते हैं कि उन्हें शासकों के धर्मानुदेशों से (अतः उनके प्रभुत्व से) छुटकारा मिल जायेगा। जब यह भ्रम भंग भी हो जाता है और नायक/नेता द्वारा प्रस्तुत वैकल्पिक मार्ग आगे नहीं बढ़ पाता, तब भी उक्त महापुरुष-विशेष और उसके सिद्धान्तों की आलोचना वर्जित और प्रश्नेतर बनी रहती है और उसे देवता बना दिया जाता है। इससे लाभ अन्ततः शोषणकारी व्यवस्था का ही होता है। धीरे-धीरे, उत्पीड़ितों के बीच से जो मुखर और उन्नत तत्त्व पैदा होते हैं, वे इसी व्यवस्था के भीतर दबाव और मोल-तोल की राजनीति करके फ़ायदे में रहना सीख जाते हैं, "महापुरुष नेता" के वफ़ादार शिष्य बनकर मलाई चाटते हुए इस व्यवस्था में सहयोजित कर लिये जाते हैं और अपने जैसे दूसरे उत्पीड़ित जनों की दुनिया से दूर हो जाते हैं।

अम्बेडकर को लेकर भारत में प्रायः ऐसा ही रुख़ अपनाया जाता रहा है। अम्बेडकर की किसी स्थापना पर सवाल उठाते ही दलितवादी बुद्धिजीवी तर्कपूर्ण बहस के बजाय "सवर्णवादी" का लेबल चस्पाँ कर देते हैं, निहायत अनालोचनात्मक श्रद्धा का रुख अपनाते हैं तथा सस्ती फ़तवेबाज़ी के द्वारा मार्क्सवादी स्थापनाओं या आलोचनाओं को ख़ारिज कर देते हैं। इससे सबसे अधिक नुक़सान दलित जातियों के आम जनों का ही हुआ है। इस पर ढंग से कोई बात-बहस ही नहीं हो पाती है कि दलित-मुक्ति के लिए अम्बेडकर द्वारा प्रस्तुत परियोजना वैज्ञानिक-ऐतिहासिक तर्क की दृष्टि से कितनी सुसंगत है और व्यावहारिक कसौटी पर कितनी खरी है? अम्बेडकर के विश्व-दृष्टिकोण, ऐतिहासिक विश्लेषण-पद्धति, उनके आर्थिक सिद्धान्तों और समाज-व्यवस्था के मॉडल पर ढंग से कभी बहस ही नहीं हो पाती।

ज़रूरत है अम्बेडकर के सभी विचारों के निरीक्षण-विश्लेषण की। एक हद तक रंगनायकम्मा ने अपनी पुस्तक 'जाति प्रश्न के समाधान के लिए...' (राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ द्वारा प्रकाशित) में यह काम किया है। यहाँ हमारा उद्देश्य अम्बेडकर के समस्त विचारों की समालोचना प्रस्तुत करना नहीं है। अपने विषय-विशेष के सन्दर्भ में हमारा मन्तव्य भारतीय संविधान के निर्माण में और उस दौरान की भारतीय राजनीति में अम्बेडकर की भूमिका की पड़ताल करना है।

इस बात का बहुत अधिक प्रचार किया जाता है कि डॉ. अम्बेडकर ही भारतीय संविधान के 'निर्माता' या "प्रमुख वास्तुकार" हैं। यह कहाँ तक सच है? संविधान सभा में 'आर्थिक शोषण से मुक्ति' के लिए प्रस्तुत अम्बेडकर का प्रस्ताव क्या था और कितना व्यावहारिक था और इस प्रस्ताव के ख़ारिज किये जाने के बाद भी अम्बेडकर संविधान सभा में और नेहरू के मन्त्रालय में क्यों बने रहे? अनुसूचित जातियों के कल्याण के जिस उद्देश्य से अम्बेडकर सरकार और संविधान सभा में गये थे, क्या उसकी कोई सम्भावना शुरू से ही वहाँ मौजूद थी? संविधान-निर्माण का कार्य सम्पन्न होने पर तो अपने लम्बे भाषण में अम्बेडकर ने परम सन्तोष प्रकट किया था और कांग्रेस की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी, फिर कुछ ही वर्षों बाद वे सरकार से बाहर आकर 'संविधान जलाने' की बात क्यों करने लगे थे? बावजूद उनके इस मोहभंग के, आज के दलित नेता उन्हें 'भारतीय संविधान का निर्माता' कहकर गौरवान्वित क्यों होते हैं और संविधान में किसी भी प्रकार की छेड़छाड़ का विरोध क्यों करते हैं? – इन सभी बातों पर तार्किक और तथ्यपरक ढंग से सोच-विचार किया जाना चाहिए। अतर्क-कुतर्क और अन्धभक्ति से किसी का भला नहीं हो सकता।

1946 तक अम्बेडकर न केवल गाँधी और कांग्रेस की राजनीति के धुर-विरोधी थे, बल्कि कम्युनिस्टों सहित साम्राज्यवाद-विरोधी मुक्ति-संघर्ष की अन्य सभी रैडिकल धाराओं के भी विरोधी थे। वे चिल्ला-चिल्लाकर कहते रहे थे कि 'स्वाधीनता से पहले जाति-उन्मूलन जैसे सामाजिक सुधार होने चाहिए' और 'भारत को जो स्वाधीनता प्राप्त होगी वह सिर्फ़ (सवर्ण) हिन्दुओं की स्वाधीनता होगी, निम्न जातियों की नहीं।' अम्बेडकर दलित जातियों के, एक हद तक, सामाजिक रूप से उन्नत और शिक्षित हो जाने से पहले अंग्रेज़ों के भारत छोड़ने के विरोधी थे। दलितों के हालात में बदलाव के लिए वे स्वयं दलितों की जागृति एवं पहलक़दमी से अधिक अंग्रेज़ों पर भरोसा करते थे। वे कृतज्ञ थे कि अंग्रेज़ छूआछूत नहीं मानते थे, उन्होंने 'महार रेजिमेण्ट' बनाने जैसे और दलितों में शिक्षा के लिए क़दम उठाये तथा शहरीकरण किया (जहाँ जातिगत भेदभाव कम था)। बहुसंख्यक दलित गाँवों में रहते थे और स्वर्ण भूस्वामियों के बर्बर सामन्ती उत्पीड़न के शिकार थे। ये अंग्रेज़ ही थे जो भूमि-बन्दोबस्त की विविध प्रणालियों के द्वारा अर्द्धसामन्ती भूमि-सम्बन्ध बनाने और मध्ययुगीन सामन्ती उत्पीड़न की निरन्तरता बनाये रखने तथा उसे नयी शक्ति प्रदान करने के लिए ज़िम्मेदार थे। पर अम्बेडकर ने इस तथ्य को कभी नहीं समझा। दलितों की स्थिति में बेहतरी लाने के लिए वे ब्रिटिश सत्ता के कृतज्ञ थे और उन्हें यदि शिक़ायत थी तो बस यह कि उन्होंने तेज़ गति से और अपेक्षित मात्रा में यह काम नहीं किया। अम्बेडकर के ज़माने में, दलित जातियों का क़रीब 98 प्रतिशत हिस्सा गाँवों-शहरों का मज़दूर वर्ग था और गाँवों-शहरों के मज़दूर वर्ग का भी क़रीब 85 प्रतिशत हिस्सा दलित जातियों से आता था। इनसे क़रीबी से जुड़े हुए छोटे-मँझोले रैय्यत व काश्तकार थे जिनका क़रीब 90 प्रतिशत हिस्सा निम्न समझी जाने वाली किसान (शूद्र) जातियों का था। उस समय इन जातियों को राष्ट्रीय मुक्ति और भूमि क्रान्ति की वेगवती धारा से अलग करने के बजाय यदि इस धारा की अग्रणी शक्ति बनाने की कोशिश की जाती, यदि उपनिवेशवादियों और उनके द्वारा संरक्षित (सवर्ण) सामन्तों के विरुद्ध नीचे की जातियों को क्रान्तिकारी संघर्ष में उतारा जाता और राजनीतिक आन्दोलन की धारा के भीतर, साथ-साथ रैडिकल सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन सतत चलाये जाते तो राजनीतिक-आर्थिक स्वाधीनता के साथ ही मेहनतकश जनगण की सामाजिक-सांस्कृतिक स्वाधीनता और दलित प्रश्न के हल की दिशा में भी एक महान अग्रवर्ती छलाँग सम्भव थी। पर अम्बेडकर को वर्ग-संघर्ष ही नहीं, व्यापक जनान्दोलनों से भी चिढ़ थी। वे कट्टर विधानवादी थे और घोर सुधारवादी। जाति-प्रश्न को उन्होंने वर्गीय शोषण के प्रश्न से एकदम अलग कर दिया। जातिगत उत्पीड़न और आर्थिक शोषण का ख़ात्मा वे केवल सत्ता के क़ानूनों-विधानों से सम्भव मानते थे या फिर स्वयं उत्पीड़कों की रज़ामन्दी से। 'जाति प्रथा का उन्मूलन' विषयक उनकी "महान कृति" का निचोड़ यह है कि जाति-व्यवस्था तभी समाप्त हो सकती है, जब ब्राह्मण इससे सहमत हों।

1926 से ही अस्पृश्यता-विरोधी आन्दोलन और लेखन अम्बेडकर के क्रियाकलापों के केन्द्रबिन्दु थे। उनके अस्पृश्यता-विरोधी आन्दोलन ज़्यादातर महाराष्ट्र केन्द्रित थे और अपने प्रभाव क्षेत्रों में दलितों के उत्पीड़न-अपमान के विरुद्ध संघर्ष, आन्दोलन एवं सुधार कार्य में कम्युनिस्ट उनसे पीछे क़तई नहीं थे। 1926 से 1934 तक अम्बेडकर दलितों के प्रतिनिधि के रूप में बम्बई विधानसभा में नियुक्त रहे। 1942 से 1946 तक वे श्रम विभाग में गवर्नर जनरल के प्रशासक रहे। अब यह अलग से शर्मिन्दगी भरी चर्चा का विषय है कि इस दौरान मज़दूरों और मज़दूर संघर्षों के प्रति "महामहिम" गवर्नर जनरल के श्रम विभाग ने क्या रुख़ अपनाया था और मज़दूरों का उसने क्या और कितना "भला" किया था! मार्च 1946 में सत्ता हस्तान्तरण के निर्णय और जुलाई 1946 में अति-सीमित मताधिकार के आधार पर, परोक्ष प्रणाली से, प्रान्तीय विधायिकाओं द्वारा संविधान सभा के चुनाव की चर्चा निबन्ध में पहले की जा चुकी है। इंग्लैण्ड और अमेरिका की बुर्जुआ जनवादी संसदीय प्रणालियों को आदर्श मानने वाले अम्बेडकर को अति विशेषाधिकार प्राप्त कुलीनों के निर्वाचक मण्डल द्वारा संविधान सभा चुनाव के इस कुचक्र पर कोई सैद्धान्तिक आपत्ति नहीं हुई। एक बार भी उन्होंने सार्विक वयस्क मताधिकार आधारित चुनाव की बात नहीं उठायी और बंगाल के मुस्लिम लीग सदस्यों के समर्थन से निर्वाचित होकर (क्योंकि कांग्रेस का समर्थन नहीं मिलने से उनके मूल राज्य बम्बई से उनका निर्वाचन सम्भव न हो सका था) वे चटपट संविधान सभा में जा बैठे। प्रसंगवश, यहाँ यह उल्लेख भी कर दिया जाना चाहिए कि पाकिस्तान की माँग, मुस्लिम लीग की अन्य माँगों तथा साम्प्रदायिकता की राजनीति पर अम्बेडकर का स्टैण्ड पहले से ही, स्थिर न रहकर लगातार दोलन करता रहा था। कभी उनकी बातें लीग को जँचने वाली होती थीं, तो कभी हिन्दू साम्प्रदायिकों को भी जमने लगती थीं। दुर्भाग्यवश, यहाँ इस विस्तार में जाना सम्भव नहीं है। मुस्लिम लीग संविधान सभा की बैठकों का बहिष्कार करती रही, पर लीगी समर्थन से वहाँ पहुँचे अम्बेडकर ने न केवल 9 दिसम्बर, 1946 से आयोजित संविधान सभा की बैठकों में हिस्सा लेना शुरू कर दिया, बल्कि 17 दिसम्बर को एक विलक्षण "भावुक" भाषण देकर नाटकीय, आश्चर्यजनक पालाबदल-कौशल का प्रदर्शन किया। आर्थिक-सामाजिक-जातिगत अन्तरों के बावजूद उन्होंने स्वतन्त्र भारत में लोगों के एक होने में विश्वास जताया और यह भी कहा कि लीग की विभाजन की माँग के बावजूद एक दिन मुसलमानों की आँखें खुल जायेंगी और वे समझ लेंगे कि संयुक्त भारत ही उनके लिए बेहतर रहेगा। उन्होंने सभी से अपने नारों को किनारे रखकर तथा जनता को भयभीत करने वाले शब्दों का प्रयोग बन्द कर एक हो जाने की अपील की (अम्बेडकर की संग्रहीत रचनाएँ, महाराष्ट्र सरकार द्वारा प्रकाशित, अंग्रेज़ी संस्करण, खण्ड-13, पृ. 9-10)।

अचानक स्टैण्ड बदलकर, अम्बेडकर स्वाधीनता-प्राप्ति पर आनन्दातिरेक से भर उठे और "एक हो जाने" की घोषणा करते हुए न केवल कांग्रेस के साथ आ गये थे, बल्कि (संकलित रचनाओं के सम्पादक वसन्त मून के शब्दों में) वे "संवैधानिक मामलों में कांग्रेस के मित्र, दार्शनिक और मार्गदर्शक बन गये थे" (उपरोक्त, पृ. 26)। अभी डेढ़ वर्ष पहले ही (जून 1945 में) अम्बेडकर ने कांग्रेस के अत्याचारों-विश्वासघातों पर एक मोटी पुस्तक लिखी थी, "कांग्रेस और गाँधी ने अछूतों के लिए क्या किया?" कांग्रेस अब भी वही थी। उसने कुछ भी नया नहीं किया था। पर अम्बेडकर का सुर बदल गया था। यह वही अम्बेडकर थे, जिन्होंने गाँधी और कांग्रेस की ओर झुकाव होने पर दलित नेता एम.सी. राजा को कभी "भाड़े का टट्टू" कहा था और मद्रास विधान-सभा के कांग्रेसी दलित विधायकों को कांग्रेस का "पालतू कुत्ता" कहा था। अब वे संविधान सभा में कांग्रेस के साथ एक हो जाने का आह्वान कर रहे थे। कृतज्ञता-ज्ञापन में कांग्रेसी पीछे नहीं रहे। संविधान सभा के अध्यक्ष, घाघ अनुदारवादी कांग्रेसी राजेन्द्र प्रसाद ने अम्बेडकर को संविधान का प्रारूप तैयार करने सम्बन्धी दो समितियों में तुरन्त शामिल कर लिया।

मार्च, 1947 में संविधान सभा में प्रस्तुत करने की दृष्टि से अम्बेडकर ने 'आर्थिक शोषण से सुरक्षा' की अपनी योजना तैयार की (देखिये, अम्बेडकर की संग्रहीत रचनाएँ, महाराष्ट्र सरकार द्वारा प्रकाशित, अंग्रेज़ी संस्करण, खण्ड-1, पृ. 383, 391, 396-97)। संविधान सभा ने उनकी योजना को ठुकरा दिया। अम्बेडकर रूठे नहीं। उलटे उन्होंने ही संविधान सभा की योजना को अपना लिया।

'आर्थिक शोषण से सुरक्षा' सम्बन्धी अम्बेडकर की योजना, वस्तुतः 'आर्थिक शोषण से सुरक्षा' नहीं देती, बल्कि पूँजीवाद का ही

(पेज 12 पर जारी)

माँगपत्रक शिक्षणमाला–5

कार्यस्थल पर सुरक्षा और दुर्घटना की स्थिति में उचित मुआवज़ा हर मज़दूर का बुनियादी हक़ है!

माँगपत्रक–2011 की पहली चार माँगों – न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे कम करने, ठेका के ख़ात्मे और काम की बेहतर तथा उचित स्थितियों की माँग – के बारे में विस्तार से जानने के लिए पढ़ें 'मज़दूर बिगुल' के अंक 1, 2, 3 और 4 – *सम्पादक*

'भारत के मज़दूरों का माँगपत्रक–2011' में सभी कार्यस्थलों पर सुरक्षा के सभी ज़रूरी इन्तज़ाम करने और दुर्घटना होने पर हर प्रभावित मज़दूर को उचित मुआवज़ा सुनिश्चित करने की माँग की गयी है। आज देश के किसी भी औद्योगिक क्षेत्र में जाकर पूछा जाये तो पता चलेगा कि मज़दूर हर जगह जान पर खेलकर काम कर कर रहे हैं। कोई दिन नहीं जाता जब छोटी-बड़ी दुर्घटनाएँ नहीं होती हैं। मुनाफ़ा बटोरने के लिए कारख़ाना मालिक सुरक्षा के सभी इन्तज़ामों, नियमों और सावधानियों को ताक पर रखकर अन्धाधुन्ध काम कराते हैं। ऊपर से लगातार काम तेज़ करने का दबाव, 12-12, 14-14 घण्टे की शिफ़्टों में हफ़्तों तक बिना किसी छुट्टी के काम की थकान और तनाव – ज़रा-सी चूक और जानलेवा दुर्घटना होते देर नहीं लगती। बहुत बार तो मज़दूर कहते रहते हैं कि इन स्थितियों में काम करना ख़तरनाक है लेकिन मालिक-मैनेजर-सुपरवाइज़र ज़बर्दस्ती काम कराते हैं और उन्हें मौत के मुँह में धकेलने का काम करते हैं। और फिर दुर्घटनाओं के बाद मामले को दबाने और मज़दूर को मुआवज़े के जायज़ हक़ से वंचित करने का खेल शुरू हो जाता है। जिन हालात में ये दुर्घटनाएँ होती हैं उन्हें अगर ठण्डी हत्याएँ कहा जाये तो ग़लत नहीं होगा। कारख़ानेदार ऐसी स्थितियों में काम कराते हैं जहाँ कभी भी कुछ भी हो सकता है। श्रम विभाग सब कुछ जानकर भी आँख-कान बन्द किये रहता है। पुलिस, नेता-मन्त्री, यहाँ तक कि बहुत-से स्थानीय डॉक्टर भी मौतों पर पर्दा डालने के लिए एक गिरोह की तरह मिलकर काम करते हैं।

सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़ भारत में औद्योगिक और कृषि क्षेत्र की दुर्घटनाओं और उनमें काम के दौरान होने वाली बीमारियों से प्रति वर्ष 4 लाख मज़दूरों की मौत हो जाती है और कई लाख मज़दूर घायल हो जाते हैं। लेकिन ये आँकड़े स्थिति की पूरी तस्वीर नहीं पेश करते क्योंकि ये मुख्यत: संगठित क्षेत्र की मज़दूर आबादी पर ही आधारित हैं। आज देश की लगभग 93 प्रतिशत मज़दूर आबादी असंगठित है और इन मज़दूरों के बारे में सही आँकड़े किसी सरकारी एजेंसी के पास नहीं हैं। ज़्यादातर मज़दूरों का नाम कारख़ाने के किसी रजिस्टर में दर्ज ही नहीं होता है। बहुत भारी संख्या में अवैध कारख़ाने, गोदाम और खदानें भी हैं जिनमें आज करोड़ों मज़दूर काम कर रहे हैं और उनकी कहीं कोई लिखा-पढ़ी नहीं है। इसे राजधानी दिल्ली के उदाहरण से समझा जा सकता है। दिल्ली में कितनी फ़ैक्टरियाँ चल रही हैं, उनमें कितने मज़दूर काम कर रहे हैं, सरकार को कुछ नहीं मालूम। बिगुल मज़दूर दस्ता की ओर से 2008 और 2009 में दिल्ली में होने वाली औद्योगिक दुर्घटनाओं के बारे में जानने के लिए सूचना का अधिकार (आरटीआई) के तहत 50 से ज़्यादा आवेदन दाखिल किये गये कि कुल कितनी दुर्घटनाएँ हुईं, इनमें कितने मज़दूरों की मौत हुई, कितने घायल या विकलांग हुए, कितनों को मुआवज़ा मिला, कितने मामलों में ज़िम्मेदार लोगों के ख़िलाफ़ कार्रवाई की गयी, आदि। दिल्ली के श्रम मन्त्री, मुख्यमन्त्री, चीफ़ फ़ैक्टरी इंस्पेक्टर, पुलिस – सबसे अलग-अलग पूछा गया। मगर ज़्यादातर सवालों का जवाब मिला कि सरकार के पास इसका कोई ब्यौरा नहीं है। या फिर, झूठे और आधे-अधूरे आँकड़े भेज दिये गये। ऐसे में अनुमान ही लगाया जा सकता है कि वास्तव में दुर्घटनाओं की संख्या कितनी अधिक होगी। हाल में दिल्ली के कुछ युवा फ़िल्मकारों ने मज़दूरों के साथ होने वाली दुर्घटनाओं पर एक डॉक्युमेण्ट्री फ़िल्म बनाने के लिए जब कुछ मज़दूर बस्तियों में लोगों से बात की तो उन्हें अनगनित ऐसे मामले मिले जिनमें सरकार की ओर से कोई भी कार्रवाई नहीं की गयी। नोएडा के आई.ई.डी. कारख़ाने की रिपोर्ट पाठकों ने 'बिगुल' में देखी होगी जहाँ पिछले 8 वर्ष में 300 से ज़्यादा मज़दूरों की उँगलियाँ मशीन में फँसकर कट चुकी हैं। मज़दूर तमाम सरकारी अधिकारियों के चक्कर काट चुके हैं लेकिन आज तक न किसी मज़दूर को मुआवज़ा मिला, न फ़ैक्ट्री मालिकों के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई हुई और न ही उन मशीनों को सुरक्षित बनाने के लिए उनमें सेंसर लगाया गया।

देश भर में धड़ल्ले से जारी असंख्य निर्माण परियोजनाओं में काम करने वाले लाखों-लाख मज़दूरों की हालत तो बँधुआ मज़दूरों जैसी होती है। कभी-कभी तो महीनों तक उन्हें निर्माण स्थल की चारदीवारी से बाहर ही नहीं निकलने दिया जाता। मज़दूरों की पहचान उनके ठेकेदार से होती है और वही उनका सब कुछ होता है। ऐसी स्थिति में कितनी घटनाएँ दर्ज होती हैं और कितने मामलों में किसी भी तरह का कोई मुआवजा मिल पाता है यह कहना बेहद कठिन है। श्रम विभाग की हालत यह है कि जिस दफ़्तर में 50 अधिकारी होने चाहिए वहाँ मौक़े पर पाँच भी नहीं मिलते। वैसे भी, 2002 के सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़ केन्द्रीय श्रम विभाग के पास फ़ील्ड अफ़सरों की संख्या इतनी कम थी कि अगर वे लगातार निरीक्षण करते तो भी एक कारख़ाने का नम्बर पाँच साल में एक बार आता। आज तो शायद 10 साल में एक बार आयेगा। मज़दूरों की सुरक्षा से सम्बन्धित क़ानून बेहद लचर, अपर्याप्त और पुराने हैं। सरकार ख़ुद अपने बनाये क़ानूनों का भी पालन नहीं करती। अक्सर तो बड़ी से बड़ी दुर्घटना पर भी मालिकों और प्रबन्धन के ख़िलाफ़ कोई मामला नहीं बनता और अगर बनता भी है तो सज़ा इतनी मामूली होती है कि वह मालिकों के लिए मज़ाक जैसी होती है। जैसे कि आये दिन ब्वायलर फटने से मज़दूर मरते और घायल होते हैं। ऐसी गम्भीर और लगातार होने वाली घटनाओं की रोकथाम के लिए कोई क़दम नहीं उठाया जाता। क़ानून में इसकी सज़ा सिर्फ़ 100 रुपये का जुर्माना तय किया गया है।

इसलिए मज़दूर माँगपत्रक –2011 में माँग की गयी है कि सभी कारख़ानों, खदानों, निर्माणस्थलों पर सुरक्षा के सभी ज़रूरी इन्तज़ाम किये जायें। इनका उल्लंघन होने पर मालिक/कॉण्ट्रैक्टर और मैनेजमेण्ट के ख़िलाफ़ सख़्त कार्रवाई (जुर्माना, जेल की सज़ा और कारख़ाने या कॉण्ट्रैक्टर का लायसेंस रद्द करना) के साथ ही जाँच एवं निगरानी के लिए ज़िम्मेदार सरकारी अधिकारी के ख़िलाफ़ भी कठोर कार्रवाई की जानी चाहिए। इसके लिए मौजूद क़ानून में ज़रूरी संशोधन किये जाने चाहिए या नया क़ानून बनाया जाना चाहिए।

अगर कहीं कोई बड़ी दुर्घटना होने पर सरकार कोई जाँच कराने का आदेश देती भी है तो उसमें लीपापोती करने और असली दोषियों को बचाने के अलावा और कुछ नहीं होता। इसलिए मज़दूर माँगपत्रक में माँग की गयी है कि सभी औद्योगिक दुर्घटनाओं की निष्पक्ष जाँच ऐसी कमेटी से करायी जाये जिसमें श्रम विभाग के उच्च अधिकारी, नागरिक एवं पुलिस प्रशासन के अधिकारी, मज़दूरों के प्रतिनिधि और मालिकों के प्रतिनिधि के साथ ही श्रम क़ानूनों के विशेषज्ञ तथा जनवादी अधिकारकर्मी भी शामिल हों। ऐसा होने पर मनमाने ढंग से तथ्यों को तोड़ने-मरोड़ने और मामले की लीपापोती करने पर रोक लगायी जा सकेगी। इसके अलावा अगर माँग उठती है या आवश्यकता पड़ती है तो विभागीय जाँच के अतिरिक्त न्यायिक जाँच और सीबीआई जाँच के प्रावधान भी होने चाहिए। लापरवाही या नियमों के उल्लंघन की स्थिति में दोषी व्यक्तियों के ख़िलाफ़ सम्बन्धित श्रम क़ानूनों के अतिरिक्त फ़ौजदारी क़ानूनों के तहत भी मुक़दमा चलाया जाना चाहिए। ऐसे मामलों में क़ानूनों को संशोधित कर सज़ाएँ सख़्त बनायी जानी चाहिए और दोष-सिद्धि की क़ानूनी प्रक्रिया को सुगम और त्वरित बनाया जाये।

ड्यूटी के दौरान मृत्यु हो जाने पर न्यूनतम और अधिकतम मुआवज़े की धनराशि अभी बेहद कम है। अभी यह न्यूनतम रु. एक लाख 20,000 से लेकर अधिकतम रु. 4,57,080 है। मज़दूर माँगपत्रक –2011 में माँग की गयी है कि क़ानून में यथाशीघ्र संशोधन इसे बढ़ाया जाये, एकमुश्त मुआवज़े के अतिरिक्त मृतक के परिवार को मृतक के मासिक वेतन का 50 प्रतिशत (अवकाश प्राप्ति के वर्ष तक) देने का प्रावधान किया जाये, तथा परिवार के एक सक्षम व्यक्ति को रोज़गार देने का प्रावधान किया जाये। यदि मृतक के परिवार में नौकरी करने लायक कोई व्यक्ति न हो, तो बच्चों के वयस्क होने तक उनके पालन-पोषण, शिक्षा आदि का ख़र्च मालिकान और सरकार द्वारा उठाने का क़ानूनी प्रावधान किया जाये। इसके साथ ही, 'वर्कमेन्स कम्पन्सेशन ऐक्ट' में संशोधन करके दुर्घटना में पूर्णत: विकलांग होने पर मिलने वाली मुआवज़े की एकमुश्त अधिकतम एवं न्यूनतम धनराशि तथा आंशिक रूप से या कुछ समय के लिए विकलांग होने पर मिलने वाली मुआवज़े की एकमुश्त अधिकतम एवं न्यूनतम धनराशि मौजूदा महँगाई और जीवन-निर्वाह ख़र्च के हिसाब से बढ़ायी जाये। अभी यह राशि बहुत ही कम है। जैसे, दुर्घटना में एक आँख हमेशा के लिए बेकार हो जाने पर मज़दूर को महज़ 25 हज़ार रुपये मिल सकते हैं। इस एकमुश्त राशि के साथ ही पूर्णत: विकलांग (या काम करने में अक्षम हो चुके) व्यक्ति के परिवार को भी उसके मासिक वेतन का 50 प्रतिशत (अवकाश प्राप्ति के वर्ष तक) देने तथा परिवार के एक सक्षम व्यक्ति को रोज़गार देने का प्रावधान किया जाये। यदि मृतक के परिवार में नौकरी करने लायक कोई व्यक्ति न हो, तो बच्चों के वयस्क होने तक उनके पालन-पोषण, शिक्षा आदि का ख़र्च मालिकान और सरकार द्वारा उठाने का क़ानूनी प्रावधान किया जाये। काम करने के दौरान कोई पेशागत बीमारी होने पर इलाज के अतिरिक्त समुचित मुआवज़े की भी क़ानूनी व्यवस्था की जानी चाहिए।

महज़ मुआवज़े का प्रावधान कर देना ही काफ़ी नहीं है। दुर्घटना-प्रभावित व्यक्ति को मुआवज़े की राशि मिले यह सुनिश्चित करना भी मुआवज़ा आयुक्त और श्रम आयुक्त के कार्यालय की ज़िम्मेदारी होनी चाहिए। मुआवज़ा पाने की क़ानूनी प्रक्रिया को भी सरल बनाया जाना चाहिए। अभी यह सारी प्रक्रिया इतनी जटिल और उलझाऊ है कि आम मज़दूर ख़ुद इसके लिए कुछ कर ही नहीं सकता। उसे किसी वकील या ट्रेड यूनियन नेता के माध्यम से ही आवेदन करना पड़ता है। ज़्यादातर वकील और यूनियन नेता कमीशनख़ोर दलालों की भूमिका निभाते हैं और मालिकों तथा श्रम विभाग के अधिकारियों की मिली-भगत से मुआवज़े की रक़म का बड़ा हिस्सा ख़ुद ही हड़प कर जाते हैं। क़ानूनी तामझाम के चक्रव्यूह को पार कर मुश्किल से 5-10 प्रतिशत दुर्घटनाग्रस्त मज़दूर मुआवज़े के लिए आवेदन कर पाते हैं और उनमें से मुश्किल से 5 प्रतिशत के पक्ष में फ़ैसला होता है। अधिकांश मज़दूरों के पास तो ऐसा कोई प्रमाण ही नहीं होता कि वह उस कारख़ाने में काम करते हैं जहाँ दुर्घटना हुई। ऊपर से बहुतेरी फ़ैक्ट्रियों का भी कोई नाम-साइनबोर्ड आदि नहीं होता। जाँच होने पर रातोरात फ़ैक्ट्री का नाम ही बदल दिया जाता है। अदालत में मालिक पेश ही नहीं होते और तरह-तरह से मामले को लटकाते रहते हैं। इस सबसे गुज़रकर अगर मुआवज़े का आदेश हो जाये तो भी मज़दूर के लिए रक़म हासिल कर पाना किसी पहाड़ को लाँघने से कम नहीं होता। रक़म उसके हाथ में देने के बजाय किसी 'श्योरिटी' (ज़मानत) की माँग की जाती है जिसका इन्तज़ाम करना एक ग़रीब मज़दूर परिवार के लिए बेहद कठिन होता है। इसका फ़ायदा भी दलाल उठाते हैं। इसलिए मुआवज़े की कार्रवाई की पूरी प्रक्रिया को सरल बनाया जाना चाहिए।

मज़दूर माँगपत्रक–2011 में माँग की गयी है कि मुआवज़ा नहीं देने पर, दुर्घटना को छिपाने और प्रभावित मज़दूर या उसके परिवार को डराने-धमकाने या प्रताड़ित करने पर मालिकान/ प्रबन्धन/कॉण्ट्रैक्टर के विरुद्ध फ़ौजदारी क़ानूनों के तहत मुक़दमा चलाकर सज़ा की व्यवस्था सुनिश्चित की जानी चाहिए। मुआवज़ा मिलने में घपला किये जाने की स्थिति में सम्बन्धित सरकारी अधिकारी के विरुद्ध भी क़ानूनी एवं विभागीय कार्रवाई की जानी चाहिए।

इसके अलावा मुआवज़े की राशि निर्धारित करने और उसका भुगतान सुनिश्चित करने वाले मुआवज़ा आयुक्त के काम में सहायता एवं निगरानी के लिए एक समिति बनायी जानी चाहिए जिसमें मज़दूरों और नियोक्ताओं के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त श्रम मामलों के विशेषज्ञ, मज़दूर हितों के लिए सक्रिय सामाजिक कर्मी तथा जनवादी अधिकारकर्मी शामिल हों। इस समिति की राय लेना मुआवज़ा आयुक्त के लिए क़ानूनन अनिवार्य हो तथा इसके विरुद्ध अपील पर

(पेज 13 पर जारी)

अरब धरती पर चक्रवाती जनउद्रेक का नया दौर और साम्राज्यवादी सैन्य-हस्तक्षेप

(पेज 7 से आगे)

देनी शुरू कर दी और उनके विमानों ने लगातार बमबारी करके कज्जाफ़ी के ठिकानों को और उसकी वायुसेना को तबाह करना शुरू किया तो समीकरण बदलने लगे। इस टिप्पणी के लिखे जाने तक देश के बड़े हिस्से पर काबिज़ होकर विद्रोही राजधानी त्रिपोली की ओर लगातार आगे बढ़ रहे हैं। सद्दाम हुसैन की ही तरह कज्जाफ़ी एक बार फिर उग्र राष्ट्रवादी तेवर दिखाते हुए अन्तिम साँस तक लड़ने और शहीद होने की बात कर रहा है। अमेरिका, ब्रिटेन, फ़्रांस की सीधी सैनिक कार्रवाई ने अरब क्षेत्र की परिस्थितियों में फिर नया बदलाव पैदा कर दिया है। कई अन्तरविरोध एक साथ सक्रिय हो उठे हैं। यमन, बहरीन, जॉर्डन, अल्जीरिया, सीरिया – इन सभी देशों में निरंकुश सत्ताओं के विरुद्ध जनउभार जारी है, लेकिन साम्राज्यवादियों के सीधे हस्तक्षेप को अरब जनता क़तई स्वीकार नहीं करेगी। लीबिया में देर-सबेर कज्जाफ़ी का पतन हो भी जाये तो इराक़ की ही तरह अशान्ति और गृहयुद्ध की स्थिति लम्बे समय तक बनी रहेगी, यह तय है। मिस्र, ट्यूनीशिया, और उप-सहारा के देशों के जो लाखों मज़दूर लीबिया में तेल निकासी, शोधन और अन्य उद्योगों में काम करते थे, उनके विस्थापन से अरब क्षेत्र और पूरे अफ़्रीकी महाद्वीप की अर्थव्यवस्था पर अस्थिरताकारी प्रभाव पड़ेंगे। लीबियाई संकट का जारी रहना अन्तरराष्ट्रीय तेल क़ीमतों को आसमान तक पहुँचाकर पहले से ही ढाँचागत संकट से चरमराते विश्व पूँजीवादी तन्त्र को और अधिक आपदाग्रस्त बना सकता है। इसका सर्वाधिक दबाव पिछड़े पूँजीवादी देशों पर पड़ेगा और जनउभारों के सिलसिले को नया संवेग मिल सकता है।

लीबिया में साम्राज्यवादी सामरिक हस्तक्षेप सामराजी लुटेरों का एक अधैर्य और हड़बड़ाहट-घबराहट भरा क़दम है, जो आगे चलकर उनके लिए उलटा ही पड़ने वाला है। फ़्रांस लीबियाई तेल का मुख्य ख़रीदार रहा है। अत: वह पीछे क़तई नहीं रह सकता था। अमेरिका और ब्रिटेन की निगाह भी लीबियाई तेल पर है। इन देशों की साझा कार्रवाई के पीछे हितों की फौरी एकता के अतिरिक्त दूरगामी प्रतिस्पर्द्धा का भी पहलू है। गौरतलब है कि जर्मनी, इटली आदि कई पश्चिमी साम्राज्यवादी ताक़तों ने और रूसी साम्राज्यवादी नेतृत्व वाले गुट ने या तो लीबिया पर हमले का विरोध किया है या इससे अपने को अलग रखा है। लीबिया में जनवाद-बहाली के नाम पर कज्जाफ़ी को सत्ताच्युत करने वाली पश्चिमी साम्राज्यवादी ताक़तें यह भी सुनिश्चित कर लेना चाहती हैं कि अल्जीरिया को नाइजीरिया से जोड़ने वाली 4,128 कि.मी. लम्बी 'ट्रांस-सहारन ऑयल पाइपलाइन' पर, (जो लीबिया से होकर गुज़रती है और 2015 तक काम करने लगेगी) कुल मिलाकर उनका ही नियन्त्रण बना रहे।

अरब दुनिया के साथ अमेरिका के सम्बन्ध के मुख्यत: तीन आधार हैं : इस क्षेत्र की तेल-सम्पदा, फिलिस्तीनी एवं समूची अरब जनता की इज़रायल-विरोधी रैडिकल भावनाओं को नियन्त्रित करने में अरब शासकों की भूमिका और तथाकथित आतंकवाद-विरोधी युद्ध में अरब सहयोगियों का समर्थन। अरब जनउभार को लेकर अमेरिकी नेतृत्व वाले पश्चिमी साम्राज्यवाद की पहली चिन्ता तेल को लेकर थी। इसी के चलते उसने बेन अली और मुबारक से पिण्ड छुड़ा लिया और इसीलिए उसने लीबिया में सामरिक हस्तक्षेप किया है। पर इराक़ की ही तरह यहाँ भी दाँव उलटा पड़ने के खतरे हैं। यमन की तानाशाही का पतन भी देर-सबेर होना ही है। ज़रूरत पड़ने पर अमेरिका जॉर्डन के शाह से भी पिण्ड छुड़ा सकता है और सीरिया में सैन्य हस्तक्षेप की सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। लेकिन इन सबके बावजूद अमेरिका, यूरोप और इज़रायली जियनवादियों की चिन्ताएँ दूर होने के बजाय बढ़ने की सम्भावनाएँ ही अधिक दीख रही हैं।

अरब भूमि पर जारी जनविद्रोह जनक्रान्ति नहीं है। उसका कोई ऐसा नेतृत्व नहीं है जो साम्राज्यवादी विश्व से निर्णायक विच्छेद के साथ कोई ऐसी व्यवस्था बनाये, जो पूँजीवाद का विकल्प हो। अबर जनउभार में मज़दूर वर्ग की सक्रिय भूमिका है, पर उसके सामने समाजवादी परियोजना को नये सिरे से प्रस्तुत करने वाली नेतृत्वकारी क्रान्तिकारी वाम शक्ति की प्रभावी उपस्थिति नहीं है। ऐसी स्थिति में, ज़्यादा सम्भावना यही है कि इराक़ के बाद लीबिया और फिर कुछ अन्य देशों में अस्थिरता, अराजकता और गृहयुद्ध जैसी स्थिति कुछ दिनों तक बनी रह सकती है। कुछ देशों में निरंकुश शासकों के पतन और संसदीय चुनावों की नौटंकी के बाद, कुछ ऐसी बुर्जुआ जनवादी सत्ताएँ क़ायम हो सकती हैं जो अमेरिकी हितों की हिफ़ाज़त की गारण्टी देते हुए सीमित जनवादी अधिकारों की बहाली करें और नवउदारवादी नीतियों को लागू करें। लेकिन विगत शताब्दी ने अरब जनता को काफ़ी कुछ सिखा दिया है। ऐसी किसी भी सत्ता की साख बहुत दिनों तक बनी नहीं रह सकती। पश्चिम और इज़रायल के प्रति नरम रुख़ रखने वाली कोई भी सरकार अरब जनता को स्वीकार्य नहीं हो सकती। दूसरी बात, नवउदारवादी आर्थिक नीतियों पर अमल एक निरंकुश सत्ता की माँग करता है। अत: जो भी सरकार आयेगी, उसे कालान्तर में भ्रष्ट, निरंकुश और अलोकप्रिय होना ही है। कहा जा सकता है कि इतिहास के इस दौर में बुर्जुआ जनवाद की सीमाएँ, सार्विक रूप से संकुचित हुई हैं और पिछड़े पूँजीवादी देशों में तो अति संकुचित हो गयी हैं। अरब देशों के साथ भी यही बात लागू होती है।

अरब जनता के लिए यह बात निर्णायक है कि जो भी नयी सत्ता स्थापित होती है, वह फिलिस्तीनी मुक्ति के प्रश्न पर और तेल सम्पदा की साम्राज्यवादी लूट के प्रश्न पर क्या रुख़ अपनाती है! साथ ही, निरंकुश सर्वसत्तावाद और भ्रष्टाचार को भी स्वीकार करने को जनता तैयार नहीं होगी, चाहे सरकारों के तेवर पश्चिम-विरोधी ही क्यों न हों (जैसे कि ईरान में या सीरिया में)!

आने वाले अराजकता और उथल-पुथल के दिनों में, शिया-सुन्नी-कुर्द-द्रुज-ईसाई जैसे आत्मघाती-भ्रातृघाती विवाद भी ज़ोर पकड़ सकते हैं और इस्लामी कट्टरपन्थ को भी जगह-जगह नयी ताक़त मिल सकती है। लेकिन ऐसा कालखण्ड दीर्घकालिक नहीं हो सकता। उपनिवेशवादियों द्वारा भड़काये गये राष्ट्रीयताओं-उपराष्ट्रीयताओं-धार्मिक मतों-सम्प्रदायों के बीच के झगड़ों की परिणतियों को अरब जनता काफ़ी देख-भुगत चुकी है। कट्टरपन्थी इस्लाम का आर्थिक-सामाजिक प्रोजेक्ट कभी व्यापक अरब जनता को सकारात्मक रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकता। उसे समर्थन केवल नकारात्मक प्रतिक्रिया के रूप में ही मिलता रह सकता है।

तात्पर्य यह कि आने वाले दिन अराजकता और अनिश्चित्ता से भरे हुए भले ही हों, अरब इतिहास एक नये युग में प्रविष्ट हो रहा है। वर्ग-संघर्ष का नया, उन्नततर रंगमंच तैयार हो रहा है। इतिहास को यहाँ से आगे ही जाना है। पीछे लौटना मुमकिन नहीं। पिछली शताब्दी में सामन्ती राजतन्त्र-विरोधी और उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलनों से अरब धरती पर जो सेक्युलर, "प्रगतिशील" और रैडिकल राष्ट्रवादी सत्ताएँ पैदा हुईं (चाहे वे मिस्र के नासिरवादी हों, सीरिया एवं इराक़ के बाथ पार्टी वाले हों, कज्जाफ़ी हो या अल्जीरिया का एफ.एल.एन. हो), उन सभी का जनवादी क्रान्ति का प्रोजेक्ट भी अधूरा था और सेक्युलरिज़्म का प्रोजेक्ट भी अधूरा था। इन सभी ने साम्राज्यवाद का प्रतिरोध किया, पर इनका आर्थिक-सामाजिक प्रोजेक्ट पूँजीवाद-निर्माण का ही था और साम्राज्यवाद के युग में विश्व पूँजीवाद से अलग-थलग एक "पूँजीवादी द्वीप" को क़ायम रख पाना सम्भव नहीं था। अपने देश की जनता का अधिशेष निचोड़ने वाले शासक वर्गों को पूरी दुनिया के शीर्षस्थ लुटेरों का कनिष्ठ साझीदार बनकर विश्व पूँजीवादी तन्त्र में एक न एक दिन व्यवस्थित होना ही था। इसी ऐतिहासिक तर्क से कल के राष्ट्रीय नायक आज के जनशत्रु बन गये। उनका जन-नायकत्व खण्डित हो गया और राष्ट्रीय गौरव पराभूत हो गया। गौरतलब है कि अपने सकारात्मक दिनों में भी इन राष्ट्रीय ताक़तों ने मार्क्सवाद और कम्युनिस्टों के प्रति स्पष्ट शत्रुता और दमन का रुख़ अपनाया था। यह इनका स्वाभाविक वर्ग-चरित्र था।

सर्व-अरब राष्ट्रवादी लहर की जो भी अधूरी और खण्डित-विघटित परियोजनाएँ थीं, उन्हें इक्कीसवीं शताब्दी में सर्व-अरब जन-एकजुटता पर आधारित, साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी क्रान्तियों की एक नयी श्रृंखला ही अंजाम तक पहुँचा सकती है और आगे विस्तार दे सकती है। जिन अरब देशों में बुर्जुआ राष्ट्रीय जनवादी सत्ताएँ क़ायम हुई थीं, उनके वारिस तानाशाहों ने अपने पूर्ववर्ती शासकों की सकारात्मक विरासत को तो त्याग दिया, पर उनके सभी नकारात्मक पक्षों को चरम सीमा तक विकसित किया। जनता अब इनसे उतनी ही घृणा करती थी जितना साम्राज्यवाद के पिट्ठू शेखों-शाहों से। इन्हीं देशों से जन-विद्रोह की लहर उठी है। इस लहर से सऊदी अरब, कुवैत, कतर, सं. अरब अमीरात आदि देशों के शेखों की सत्ताएँ भी तब अछूती नहीं रहेंगी, जब सर्व-अरब जन-एकजुटता की लहर और अधिक प्रचण्ड हो जायेगी।

वर्तमान विशाल अरब जनविद्रोहों का एक सकारात्मक परोक्ष परिणाम लेबनान में सामने आया है। अमेरिकी मंसूबा यह था कि संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा अधिकृत आयोग द्वारा पूर्व प्रधानमन्त्री रफीक हरीरी की हत्या के आरोप में हिजबुल्ला को प्रतिबन्धित कर दिया जाये तथा उसके नेताओं की गिरफ्तारी के लिए अन्तरराष्ट्रीय वारण्ट जारी कर दिये जायें। ज़ाहिर है कि हिजबुल्ला इसकी परवाह नहीं करता, लेबनान में गृहयुद्ध की स्थिति पैदा हो जाती और इज़रायल और पश्चिमी देश हिजबुल्ला को सबक सिखाने के लिए लेबनान पर हमला बोल देते। लेकिन मिस्र, ट्यूनीशिया आदि देशों में जारी जनविद्रोहों के चलते ऐसा न हो सका। इसके विपरीत, हिजबुल्ला ने लेबनानी सरकार को गिरवाकर अपने सहयोगियों के नेतृत्व वाली नयी सरकार बनवा दी।

दूसरा परोक्ष परिणाम फिलिस्तीन में सामने आया है। हम्मास शासित गाजा पट्टी क्षेत्र की घेरेबन्दी मुबारक के पतन के बाद ढीली पड़ गयी है और अरब जनता से ज़्यादा मदद वहाँ पहुँचने लगी है। आगे मिस्र में जब कोई नयी पश्चिमपरस्त सत्ता भी क़ायम होगी तो गाजा पट्टी की मुकम्मल घेरेबन्दी में इज़रायली शासकों का वह उस हद तक सहयोग नहीं कर पायेगी। इसी बीच 'गार्जियन' अख़बार और अलजज़ीरा द्वारा प्रकाशित दस्तावेजों के जखीरे ('फिलिस्तीन पेपर्स') ने महमूद अब्बास, वर्तमान पी.एल.ओ. नेतृत्व और फिलिस्तीनी प्राधिकरण के दलाल चरित्र को नंगा करके उनके भविष्य को सीलबन्द कर दिया है। फिलहाली तौर पर, पश्चिमी तट पर भी हमास का प्रभाव बढ़ना तय है। दूरगामी तौर पर, फिलिस्तीनियों के भीतर से नयी सेक्युलर, रैडिकल और वाम शक्तियों के उभरने की ज़मीन नये सिरे से तैयार हो रही है। जियनवादी शासकों ने अपनी आक्रामक और दमनात्मक कार्रवाइयों को कुछ विराम दे दिया है और स्वयं इज़रायली जनता के भीतर से भी उनकी नीतियों के विरोध में तीख़े स्वर उठने लगे हैं।

इन तात्कालिक उपलब्धियों के अतिरिक्त, वर्तमान जन-विद्रोहों की आम उपलब्धि यह है कि आने वाले दिनों में किसी निरंकुश बुर्जुआ सत्ता द्वारा भी जनता के जनवादी अधिकारों का अपहरण इतना आसान नहीं होगा।

वर्तमान जनविद्रोहों की लहर यदि पीछे धकेल दी जाती है तो हो सकता है कि कुछ समय के लिए अरब जगत में अस्थिरता-अराजकता-गृहयुद्ध जैसा माहौल बन जाये। इस्लामी कट्टरपन्थी ताक़तों का प्रभाव-विस्तार भी हो सकता है। तेल सम्पदा पर इज़ारेदारी के लिए साम्राज्यवादी होड़ (जो आज सतह के नीचे है) कुछ नये समीकरणों को जन्म दे सकती है। फिलिस्तीन के अतिरिक्त लेबनान और सीरिया को भी कुटिल इज़रायली षड्यन्त्रों का शिकार होना पड़ सकता है। बचे हुए साम्राज्यवादी पिट्ठू और अधिक दमनकारी रुख़ अपना सकते हैं। लेकिन ये सभी नतीजे और प्रभाव अल्पकालिक ही होंगे। अरब जगत अब वैसा नहीं रह जायेगा, जैसा वह था। यदि सन्नाटा या उलटाव के दौर आयेंगे भी, तो लम्बे नहीं होंगे। अपेक्षाकृत अधिक छोटे अन्तरालों पर जनज्वार उमड़ते रहेंगे। उनकी आवर्तिता बढ़ती जायेगी और उग्रता भी। वर्तमान जन-विद्रोहों में मज़दूर वर्ग की सक्रियता उल्लेखनीय रही है। आगे, उभार के हर नये चक्र में, मज़दूर वर्ग, वर्ग संघर्ष की पाठशाला से शिक्षा लेगा और अपनी ऐतिहासिक विरासत को याद करेगा। अरब धरती पर वामपन्थ का पुराना इतिहास रहा है।

लम्बे समय से अरब जगत साम्राज्यवादी विश्व के समस्त अन्तरविरोधों की एकल गाँठ बना रहा है। अब वहाँ पचास और साठ के दशक के बाद, पहली बार इतने व्यापक पैमाने पर जन उभारों का सैलाब उमड़ रहा है। वैज्ञानिक इतिहास-दृष्टि बताती है कि इनसे बहुत जल्दी सकारात्मक नतीजे की उम्मीद करना अतिआशावाद होगा। लेकिन दूरगामी तौर पर, इनसे निश्चित ही सकारात्मक परिणाम निकलेंगे। यहाँ से अरब जनमुक्ति संघर्ष का नया चक्र शुरू हो रहा है। यह एक नयी शुरुआत है। अरब धरती पर जारी संघर्षों का यह सिलसिला पूरी दुनिया में जारी साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी जनसंघर्षों को प्रभावित करेगा। साम्राज्यवादी विश्व के सभी अन्तरविरोधों की एकल गाँठ जिस भू-भाग में स्थित है, वहाँ होने वाली तूफ़ानी हलचलों से दुनिया के अन्य हिस्से प्रभावित हुए बिना भला कैसे रह सकते हैं?

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

(पेज 9 से आगे)

एक भिन्न संस्करण प्रस्तुत करती है, जिसमें अव्यावहारिकता तो है ही, अर्थशास्त्र-विषयक अम्बेडकर के अधकचरे ज्ञान का खुला प्रदर्शन भी है। भारतीय पूँजीपति वर्ग को पूँजीवाद का अम्बेडकर-प्रस्तावित संस्करण पूरी तरह से स्वीकार्य नहीं था, इसलिए उसके राजनीतिक प्रतिनिधियों ने उसे ख़ारिज कर दिया। अम्बेडकर ने आर्थिक शोषण से बचाव के लिए प्रमुख उद्योगों और बीमा क्षेत्र के राज्य के स्वामित्व में होने का प्रस्ताव दिया तथा जो उद्योग प्रमुख नहीं थे, लेकिन बुनियादी थे, उन्हें राज्य द्वारा स्थापित निगमों द्वारा चलाये जाने का प्रस्ताव किया। यही उनका "राजकीय समाजवाद" था। मूलत: यह नेहरू के "समाजवाद" जैसा ही था जो सारत: राजकीय पूँजीवाद था। यह कोई नयी बात नहीं थी। कीन्स के नुस्ख़ों से पहले भी राजकीय पूँजीवाद था। यह मूलत: पूँजीपति वर्ग की ही सेवा करता था और अधिशेष इसमें भी निचोड़ा जाता था। 'पब्लिक सेक्टर' के "समाजवादी" अनुभवों से भला कौन भारतीय परिचित नहीं है। अम्बेडकर का दूसरा प्रस्ताव कृषि को भी राजकीय उद्योग बनाने का था। ज़ाहिर है कि बुर्जुआ वर्ग चाहकर भी ऐसा नहीं कर सकता था, क्योंकि धनी और मँझोले काश्तकार भी इस मसले पर उसका साथ नहीं देते। दूसरे, खेती का यदि राजकीयकरण हो भी जाता तो केवल शोषण का रूप बदल जाता, क्योंकि बुनियादी सवाल यह है कि राज्यसत्ता की बागडोर किस वर्ग के हाथों में है!

'आर्थिक शोषण से मुक्ति' का प्रस्ताव रखते हुए अम्बेडकर इस बुनियादी बात को नहीं समझ पाते कि श्रम का शोषण ही आर्थिक शोषण है। किराया, ब्याज, मुआवज़ा, ऋणपत्र, मुद्रा, भूमि, मज़दूरी आदि सभी अर्थशास्त्रीय प्रवर्गों पर वे एकदम दिग्भ्रमित हैं और उनके द्वारा प्रस्तुत सुझावों में शोषणकारी उत्पादन-सम्बन्ध और सम्पत्ति-सम्बन्ध अन्तर्निहित हैं। यह चर्चा थोड़े तकनीकी एवं जटिल अर्थशास्त्रीय विस्तार की माँग करती है, अत: इसके विस्तार में जाना यहाँ सम्भव नहीं। संक्षेप में, अम्बेडकर के सुझाव शोषण के अधिकारों और आय के शोषणकारी अधिकारों को जारी रखने के प्रस्ताव मात्र हैं। महज़ एक उदाहरण लें। उद्योगों और भूमि का राजकीयकरण करते समय अम्बेडकर पूर्वस्वामियों को मुआवज़ा देने की बात करते हैं। पूँजीपतियों की पूँजी मज़दूरों की कई पीढ़ियों द्वारा सृजित अतिरिक्त मूल्य से ही संचित हुई है। अब भूमि के सवाल को लें। प्रकृति में मौजूद अपरिष्कृत भूमि का कोई मूल्य नहीं है। भूमि के लिए किये गये भुगतान की धनराशि उन लोगों के श्रम के अतिरिक्त मूल्य का अंश है जिन्होंने उस भूमि को कृषि योग्य बनाकर फ़सलें उगायी हैं। भूमि और उद्योग के लिए मुआवज़ा अदा करने का मतलब है – शोषणकारी सम्पत्ति-अधिकारों के ख़ात्मे के बजाय सम्पत्ति के स्वरूप को बदल देना। जो मालिक पहले मुनाफ़ा कूटते थे और लगान वसूलते थे, वे ब्याज पर ऐश करते रहेंगे और परोक्षत: निचोड़े गये अधिशेष के भागीदार बने रहेंगे। अम्बेडकर सम्पत्ति के अधिकार पर या बुर्जुआ श्रम-विभाजन पर चोट नहीं करते। वे हर सक्षम नागरिकों के काम करने के अधिकार की या अपरिहार्यता की बात नहीं करते।

ऐसे अधकचरे सुझाव अम्बेडकर की सम्पूर्ण विचार-सरणि में मौजूद हैं। जाति प्रश्न के हल के लिए उन्होंने वृहत शहरीकरण का हवाई सुझाव दिया (यह असम्भव है, मूल बात है एक लम्बी प्रक्रिया में गाँव और शहर के अन्तर को, कृषि और उद्योग के अन्तर को ख़त्म करना, लेकिन पूँजीवाद में यह सम्भव नहीं है। दूसरी बात, शहरों में भी धनी-ग़रीब की गहराती खाई बनी रहेगी और गाँव के दलित सर्वहाराओं को ज़्यादातर शहरी सर्वहाराओं की क़तारों में ही जगह मिलेगी तथा जातिगत विभेद की दीवारें भी बनी रहेंगी)। जाति प्रश्न का दूसरा समाधान उन्होंने बौद्ध धर्म अपनाने में देखा। यह विकल्प समय ने थोथा-बोदा सिद्ध किया। आरक्षण के विकल्प की भी बात कर ली जाये। आरक्षण एक अस्थायी सुरक्षात्मक उपाय हो सकता था, पर अन्तिम समाधान का रास्ता तो 'समान शिक्षा सबको रोज़गार' तथा स्वास्थ्य, आवास आदि को राज्य की ज़िम्मेदारी बनाये जाने के बाद ही फूट सकता था। आरक्षण की निरन्तरता जातियों की निरन्तरता ही है। आरक्षण का लाभ बहुसंख्यक दलित मेहनतकश आबादी के बजाय मुट्ठीभर दलित मध्यवर्ग के लोगों को ही मिल पाता है। बुनियादी सवाल यह है कि दलित मुक्ति की और जाति-उन्मूलन की तर्कसंगत, व्यावहारिक परियोजना आख़िरकार क्या हो सकती है? – तो इस प्रश्न पर अम्बेडकर का निष्कर्ष तो यही है कि जाति व्यवस्था तभी समाप्त हो सकती है, जब ब्राह्मण इससे सहमत हों! यह है अम्बेडकर के राजनीतिक-सामाजिक विचारों की असली अन्तर्वस्तु! बहरहाल, हम फिर संविधान-निर्माण के दौरान अम्बेडकर की भूमिका की ओर वापस लौटते हैं।

'आर्थिक शोषण से सुरक्षा' (मार्च, 1947) की अपनी योजना को ख़ारिज कर दिये जाने के बाद, अम्बेडकर के सामने एक नयी समस्या आ खड़ी हुई। विभाजन के बाद लीगी समर्थन से बंगाल से निर्वाचित अम्बेडकर की संविधान सभा-सदस्यता समाप्त हो गयी। अब कांग्रेस फ़ौरन उद्धारक बनकर आगे आयी। बम्बई के एक कांग्रेसी सदस्य से त्यागपत्र दिलवाकर उस सीट से अम्बेडकर को तुरन्त निर्वाचित कर लिया गया। नेहरू ने अपनी सरकार में भी उन्हें शामिल कर लिया और विधि मन्त्री बनाया। अम्बेडकर योजना या श्रम मन्त्रालय चाहते थे। नेहरू ने इन्तज़ार करने को कहा और टाल गये। 29 अगस्त, 1947 को अम्बेडकर को संविधान सभा की प्रारूप कमेटी का अध्यक्ष चुना गया। पूर्व में यह चर्चा की जा चुकी है कि जिस संविधान का डॉ. अम्बेडकर को निर्माता और मुख्य वास्तुकार कहा जाता है, उसका मुख्य ढाँचा औपनिवेशिक सत्ता के दो नौकरशाहों – सर बी.एन. राव और एस.एन. मुखर्जी ने तैयार किया था और उसमें 'गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट 1935' की 395 में से 295 धाराओं को ज्यों का त्यों शामिल कर लिया गया था। यह संक्षिप्त उल्लेख भी किया जा चुका है कि यह संविधान सम्पत्ति के अधिकारों की और शोषणकारी सम्बन्धों की इंच-इंच हिफ़ाज़त करता है, लेकिन श्रम के अधिकारों की कोई गारण्टी नहीं लेता। आगे जब हम संविधान के एक-एक हिस्से का तफ़सील से विश्लेषण करेंगे तो अम्बेडकर के बुर्जुआ जनवादी विभ्रम और खुलकर हमारे सामने आ जायेंगे।

यहाँ यह याद दिलाना बेहद ज़रूरी है कि अम्बेडकर प्रारूप कमेटी में बैठकर जब संविधान के मसौदे की काट-छाँट कर रहे थे, उस समय तेलंगाना किसान संघर्ष जारी था। नेहरू सरकार द्वारा उसका बर्बर दमन भी तभी हुआ था। तेलंगाना, तेभागा, पुनप्रा-वायलार, नौसेना विद्रोह, देशव्यापी मज़दूर उभार – इन सबसे अम्बेडकर विरक्ति भाव नहीं, वितृष्णा भाव और विरोध भाव रखते थे। संविधान बनाने के बाद संविधान सभा में दिये गये अपने लम्बे भाषण में भी उन्होंने लोगों को क्रान्ति और आन्दोलन के "बेकार रास्ते" से दूर रहने और संविधानसम्मत-क़ानूनसम्मत आचरण की नसीहत दी थी। इस मायने में अम्बेडकर गाँधी-नेहरू से भी दस क़दम आगे थे। वे एक कट्टर विधानवादी थे।

25 नवम्बर 1947 को प्रारूप कमेटी के अध्यक्ष की हैसियत से अम्बेडकर ने संविधान सभा में लम्बा भाषण दिया। अम्बेडकर का दावा था कि वे अनुसूचित जातियों की हितरक्षा के लिए संविधान सभा में शामिल हुए थे। संविधान में यह उल्लेख भी है कि 'अस्पृश्यता का अनुशीलन क़ानूनी तौर पर दण्डनीय अपराध है।' पाँच वर्षों बाद 1954 में सरकार ने अस्पृश्यता को निषिद्ध करने का क़ानून भी बनाया। लेकिन अस्पृश्यता विविध रूपों में सामाजिक जीवन में आज भी मौजूद है। यदि स्थिति में थोड़ा-बहुत मात्रात्मक परिवर्तन हुआ भी है तो उसका कारण या तो जनजीवन पर पूँजी का समरूपी दबाव है या फिर समय के साथ सामाजिक चेतना में हुआ मात्रात्मक विकास है, संवैधानिक या क़ानूनी प्रावधानों की इसमें कोई भूमिका नहीं है। स्थितियों ने अम्बेडकर के संवैधानिक वैधिक विभ्रमों को स्वत: उजागर कर दिया है।

25 नवम्बर '47 को संविधान सभा में दिये गये अपने लम्बे-चौड़े भाषण में अम्बेडकर प्रारूप कमेटी के अध्यक्ष का कार्यभार स्वयं को सौंपे जाने को लेकर कांग्रेस के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करते हुए लोटपोट हो गये, कांग्रेसियों और संविधान सभा के सभी सदस्यों (जिनमें राजे-राजवाड़ों, पूँजीपतियों और अंग्रेज़परस्त विधिवेत्ताओं की बहुतायत थी) की भूरि-भूरि प्रशंसा करते रहे और इस बात को स्वीकार किया कि संविधान का प्रारम्भिक प्रारूप नौकरशाह – बी.एन. राव और एस.एन. मुखर्जी ने तैयार किया था। यह समझाना मुश्किल है कि संविधान के निर्माता और वास्तुकार डॉ. अम्बेडकर को क्यों माना जाता है? जहाँ तक वास्तुकार होने की बात है, तो भारतीय संविधान का कोई मौलिक वास्तु (स्थापत्य) है ही नहीं। ज़्यादातर धाराएँ 1935 के कुख्यात औपनिवेशिक क़ानून की है और दुनिया के अलग-अलग संविधानों से कुछ-कुछ चीज़ें उधार लेकर यहाँ-वहाँ खोखले शब्दों की पच्चीकारी और रंगरोगन कर दिया गया है। इस प्रक्रिया में यह यदि दुनिया का सबसे मोटा संविधान हो गया है तो यह गौरव की नहीं बल्कि मज़ाक़ की बात है।

अम्बेडकर अपने भाषण में सभी सहयोगियों और अध्यक्ष राजेन्द्र प्रसाद के विलक्षण यशोगान के बाद कम्युनिस्टों-सोशलिस्टों पर टूट पड़ते हैं। वे कहते हैं कि कम्युनिस्ट पार्टी संविधान की इसलिए निन्दा करती है, क्योंकि वह सर्वहारा अधिनायकत्व पर आधारित संविधान चाहती है जबकि भारतीय संविधान संसदीय जनवाद पर आधारित है। यह बात तथ्यत: ग़लत है। कम्युनिस्ट पार्टी ने उस समय बस इतना ही किया था कि सार्विक मताधिकार पर संविधान सभा के पुनर्गठन की माँग की थी। जहाँ तक सर्वहारा अधिनायकत्व की बात है, तो यह सर्वविदित है कि यदि राष्ट्रीय मुक्ति का नेतृत्व कम्युनिस्ट करते तो वे सर्वहारा अधिनायकत्व ही क़ायम करते। अम्बेडकर अन्यत्र मार्क्सवाद पर हमला करते हुए सर्वहारा अधिनायकत्व की धारणा को अटकल-पच्चू ढंग से विरूपित करते हैं। कम्युनिस्ट धारणा के अनुसार, हर सत्ता वर्ग-अधिनायकत्व होती है। बुर्जुआ संसदीय जनवाद बुर्जुआ अधिनायकत्व होता है और सर्वहारा समाजवादी जनवाद सर्वहारा अधिनायकत्व होता है। संसदीय जनवाद या कोई भी जनवाद निरपेक्ष जनवाद नहीं होता। इस प्रश्न पर अम्बेडकर की अधकचरी सोच की रंगनायकम्मा ने अपनी उपरोल्लिखित पुस्तक में बहुत करीने से चीरफाड़ की है। यहाँ अधिक विस्तार से उसकी चर्चा सम्भव नहीं है।

अम्बेडकर के अनुसार, सोशलिस्ट (किन सोशलिस्टों की ओर उनका इशारा था, यह स्पष्ट नहीं होता) संविधान की आलोचना इसलिए करते हैं कि वे बिना मुआवज़ा दिये ही समूची ग़ैरसरकारी सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण या समाजीकरण चाहते हैं, जबकि संविधान इसकी इजाज़त नहीं देता। ये सोशलिस्ट चाहे जो भी हों, लेकिन वे यदि ऐसा कह रहे थे तो सोलह आने उचित बात कह रहे थे। जनता की श्रमशक्ति को लूटकर पूँजी का अम्बार खड़ा करने वालों और कल-कारख़ानों-ज़मीन का मालिकाना हासिल करने वाले लुटेरों की सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण करते समय मुआवज़े देने का भला क्या औचित्य है? इसमें दलित जातियों का भला क्या हित है? ज़मीन्दारों-जागीरदारों और पूँजीपतियों को सम्पत्ति का मुआवज़ा भी तो सरकार जनता के पैसे से ही देती! क्या इतना पर्याप्त नहीं होता कि कोई वास्तविक जनवाद उन्हें आम नागरिक के समान काम करने और जीने का अधिकार प्रदान करता! अम्बेडकर सम्पत्तिशालियों को मुआवज़े देने की इतनी तरफ़दारी क्यों करते हैं? संविधान सभा में बैठे, देश के 11.5 प्रतिशत लोगों के प्रतिनिधियों का तो वे इतना गुणगान करते हैं, लेकिन बिना मुआवज़ा दिये सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण करने की माँग करने वालों पर एकदम लाल-पीले हो जाते हैं! क्या यह सोचने की बात नहीं है कि क्यों?

आगे अपने भाषण में अम्बेडकर जाति-धर्म जैसे पुराने शत्रुओं और कई राजनीतिक पार्टियों (लेकिन जिस संसदीय जनवाद के वे हामी थे उसमें कई राजनीतिक पार्टियाँ तो होनी ही थीं) के होते हुए, राजनीतिक विरोधाभासों के चलते आज़ादी और लोकतान्त्रिक संविधान को ख़तरे में पड़ने से बचाने के लिए भारतवासियों से मतों और पन्थों से देश को ऊपर रखने की अपील करते हैं। यहाँ वे अपने चिरशत्रु गाँधी की भाषा बोलते नज़र आते हैं। अचानक उन्हें यह कैसे लगने लगा कि सवर्ण जातियाँ देशहित में जातिगत उत्पीड़न बन्द कर देंगी अथवा साम्प्रदायिक तत्व अपने संकीर्ण मत या पन्थ से ऊपर उठ जायेंगे? इसके बाद उन्होंने न केवल बौद्ध गणराज्यों की बल्कि प्राचीन हिन्दू राजाओं के लोकतन्त्र का भी गुणगान किया है। यह इतिहास का सर्वविदित तथ्य है कि पुराने बौद्ध गणराज्यों में भी समाज में न केवल वर्गीय पद सोपानक्रम, बल्कि जातिगत उत्पीड़न भी मौजूद था। यह समझना तो और भी मुश्किल है कि अचानक हिन्दू राजा अम्बेडकर को इतने प्रिय कैसे लगने लगे?

अपने इस भाषण में अम्बेडकर ने संविधान को "राजनीतिक लोकतन्त्र की विशाल संरचना" की संज्ञा दी है। यही वह "राजनीतिक लोकतन्त्र की विशाल संरचना" है जिसका निर्माण 11.5 प्रतिशत कुलीनों के प्रतिनिधियों ने किया था, जिसके प्रावधानों के तहत 1975 में आपातकाल लगा था और जिसके तहत होने वाले संसदीय

(पेज 13 पर जारी)

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

(पेज 12 से आगे)

चुनावों में पूँजी की ताक़त का नंगा खेल पिछले छह दशकों से निर्बाध जारी है। यही "राजनीतिक लोकतन्त्र की विशाल संरचना" है जो पिछले छह दशकों से उन दलितों को चक्की की तरह पीस रही है, अम्बेडकर जिनके हितों के सबसे बड़े पैरोकार थे। यही वह लोकतन्त्र है जिसमें 77.5 प्रतिशत आबादी आज भी 20 रुपये रोज़ से कम पर जीती है, जबकि ऊपर के दस प्रतिशत लोग ऐश्वर्य और विलासिता के टापुओं पर बसेरा करते हैं। अम्बेडकर इसी लोकतन्त्र को बचाने के लिए सबसे अधिक चिन्तित थे और अपने भाषण में उन्होंने स्पष्ट कहा कि हमें क्रान्ति के बेकार तरीक़ों को छोड़ना होगा और संवैधानिक तरीक़ों पर दृढ़ रहना होगा। बुर्जुआ जनवाद की इससे बड़ी सेवा भला और क्या हो सकती है कि जिन्हें विद्रोह करने की सबसे अधिक ज़रूरत थी (और है), उन्हीं दलितों को उन्हीं का मसीहा संघर्ष के रास्ते से अलग रहने और संविधान-क़ानून की "पवित्रता" को अलंघ्य मानने की नसीहत दे गया!

आगे अपने भाषण में अम्बेडकर धनी-ग़रीब के बीच की खाई और बहुसंख्यक जनता की नारकीय दरिद्रता की चर्चा करते हैं। वे स्वाधीनता और लोकतान्त्रिक ढाँचे को बनाये रखने के लिए तथा जनता को वर्ग-युद्ध के रास्ते पर जाने से रोकने के लिए सरकार से कुछ सामाजिक-आर्थिक सुधारमूलक क़दम की अपेक्षा करते हैं ('आर्थिक शोषण से मुक्ति' के उनके हवाई सुझाव तो पहले ही ख़ारिज किये जा चुके थे) लेकिन ग़रीबों को वे बार-बार यही उपदेश देते हैं कि वे संविधान और क़ानून के ख़िलाफ़ कदापि न जायें।

अम्बेडकर के इस भाषण के बाद कांग्रेसी और अन्य सदस्यों ने उनकी प्रशंसा की झड़ी लगा दी और उन्हें "आधुनिक मनु" की संज्ञा दी। कांग्रेस के प्रति आत्मसमर्पण का दृश्य पूरा हो चुका था।

इसके बाद चार वर्षों तक अम्बेडकर इन्तज़ार करते रहे। उन्हें न तो मनचाहा मन्त्रालय मिला, न ही उन्हें किसी अन्य नयी गठित कमेटी में ही लिया गया। 1952 में वे राज्यसभा के सदस्य बने। 1953 में राज्यसभा में 'आन्ध्र राज्य के बिल' पर बोलते हुए उन्होंने कहा : "सब लोग मुझे संविधान का निर्माता कहते हैं। वास्तव में मुझे बहुत सी बातें अपनी इच्छाओं के विरुद्ध लिखनी पड़ी थीं। अब मैं उस संविधान से सन्तुष्ट नहीं हूँ जिसे मैंने स्वयं लिखा। मैं पहला व्यक्ति होऊँगा जो इसे जलाने के लिए आगे आयेगा। यह संविधान किसी के लिए भी उपयोगी नहीं है।" (रंगनायकम्मा : उपरोद्धृत पुस्तक, पृ. 452-453)।

अब जैसाकि हम ऊपर स्वयं अम्बेडकर के ही मुँह से सुन चुके हैं (और यह इतिहास का तथ्य है) कि संविधान के मुख्य वास्तुकार नौकरशाह राव और मुखर्जी थे। उनके द्वारा प्रस्तुत मसौदे में प्रारूप कमेटी में विचार-विमर्श के बाद बहुमत से जोड़-घटाव किया गया। अम्बेडकर की भूमिका उस प्रारूप कमेटी के अध्यक्ष के तौर पर जोड़े-घटाये गये अंशों की 'ड्राफ़्टिंग' करने मात्र की थी। अत: अम्बेडकर द्वारा स्वयं को "संविधान का लेखक" कहना ग़लत है। दूसरी बात, अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ बहुतेरी बातें लिखने की ऐसी क्या विवशता थी? अम्बेडकर संविधान सभा या प्रारूप कमेटी से बाहर क्यों नहीं आ गये? तीसरी बात, यदि अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ बहुतेरी बातें लिखनी ही पड़ीं तो नवम्बर 1947 के अपने भाषण में इतने अत्युक्ति अलंकार में संविधान की श्रेष्ठता-महानता का प्रशस्ति-गान करने की और संविधान-निर्माता सहयोगियों का गुण बखानने की भला क्या मजबूरी थी? चौथी बात, संविधान लागू होने के चार वर्षों के भीतर ही ऐसा क्या घटित हो गया कि संविधान से अम्बेडकर का इस क़दर मोहभंग हो गया कि वे उसे जलाने को तैयार हो गये? पाँचवीं बात, यदि ऐसा हो ही गया तो तत्क्षण वे मन्त्री पद और राज्यसभा से इस्तीफ़ा देकर बाहर क्यों नहीं आ गये?

इस भाषण के बाद अम्बेडकर सितम्बर 1955 तक विधिमन्त्री बने रहे और श्रम या योजना मन्त्रालय जैसा पसन्द का मन्त्रालय पाने का इन्तज़ार करते रहे। फिर निराश होकर उन्होंने इस्तीफ़ा दे दिया। येन्दूलूरी की तेलुगू पुस्तक के हवाले से रंगनायकम्मा ने बताया है (पृ. 451) कि अम्बेडकर ने अपने इस्तीफ़े के चार कारण बताये थे : पहला, मनचाहा मन्त्रालय न मिलना; दूसरा, दलितों की सुरक्षा की सरकार द्वारा समुचित व्यवस्था न होना; तीसरा, विदेश नीति से असहमति; और चौथा, मन्त्रियों की कमेटियों के निर्णयों के अनुचर जैसी स्थिति! ऐसा लगता है कि इनमें पहला कारण ही प्रधान था और यह विशुद्ध व्यक्तिगत पसन्द का मामला था, न कि उसूली मामला था। जहाँ तक दूसरे कारण का सवाल है, अम्बेडकर ने सरकार से दलितों की सुरक्षा की अपेक्षा किस आधार पर की थी, पूछा यह जाना चाहिए। दलितों और समूची जनता को तो हर हाल में वे संविधान व क़ानून की चौहद्दी में रहने की नसीहत पहले ही दे चुके थे। अब जबकि सरकार दलित-हितों की अनदेखी कर रही थी और वे स्वयं संविधान को जलाने के मूड में आ गये थे; तो उन्होंने यह नहीं बताया कि दलित क्या करें – संविधान जलायें (यह तो घोर असंवैधानिक व ग़ैरक़ानूनी कृत्य है और आन्दोलन का एक रूप भी) या संविधान में संशोधन के लिए कुछ करें! बहुतेरे बुर्जुआ दलित नेता भले ही संविधान में छेड़छाड़ को अम्बेडकर की शान में गुस्ताख़ी समझते हों, अम्बेडकर ने नवम्बर 1947 के अपने भाषण में स्पष्ट कहा था कि आने वाले समय में आवश्यकतानुसार इसे बदला जा सकता है! लेकिन तब संविधान-संशोधन के बजाय वे स्वयं उसे जलाने की बात क्यों करने लगे और यदि करने ही लगे तो पूरे देश की जनता और दलितों को ऐसा करने के लिए कहा क्यों नहीं!

मन्त्रीपद से अपने इस्तीफ़े के तीसरे कारण के विस्तार में अम्बेडकर गये ही नहीं और चौथे कारण से तो ऐसा लगता है कि वे मन्त्रियों के निर्णय लेने के निरंकुश अधिकार के पक्षधर थे!

बहरहाल, उत्तरकथा यह है कि मन्त्रीपद से इस्तीफ़े के बाद, अम्बेडकर के जीवन का अगला महत्त्वपूर्ण क़दम था 1956 में बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेना। 1936 में धर्म-परिवर्तन के फ़ैसले की घोषणा के बीस वर्षों बाद उन्होंने इसे अमली जामा पहनाया। बौद्ध धर्म की अपने समय में जो सीमित प्रगतिशील भूमिका रही थी, या उसकी जो दार्शनिक अन्तर्वस्तु थी, या शासक वर्गीय हितों के साथ उसके समझौते और पतन-विघटन की जो प्रक्रिया रही थी, उस ऐतिहासिक विमर्श में अम्बेडकर जाते ही नहीं। अन्तिम विश्लेषण में, हर धर्म की तरह बौद्ध धर्म भी अस्तित्वमान शोषणकारी सम्बन्धों के पक्ष में खड़ा होता है। अम्बेडकर इस मार्क्सवादी स्थापना का भी कोई तर्कपूर्ण प्रतिवाद नहीं करते। बौद्ध धर्म में समाधान ढूँढ़ते हुए वे अतार्किक ढंग से बौद्ध ग्रन्थों की कुछ कथाएँ सुनाते हैं और निहायत अधकचरा धार्मिक यूटोपिया प्रस्तुत करते हैं। वे यह भी नहीं बताते कि यदि आधुनिक युग की समस्याओं का समाधान बौद्ध धर्म में है तो बौद्ध धर्मानुयायी देशों में भी सामन्ती और पूँजीवादी शोषण और समस्याएँ क्यों मौजूद थीं। अम्बेडकर का अनुगमन करते हुए देश के कुछ हिस्सों में कुछ दलित बौद्ध बने, पर उन्हें "नवबौद्ध" कहा गया। "नवबौद्ध" शब्द दलित शब्द का ही पर्यायवाची बन गया और दलित जातियों का सामाजिक पार्थक्य और उत्पीड़न यथावत् बना रहा। आरक्षण ने आम दलितों की समस्या का कितना समाधान किया है, साठ वर्षों की यह हक़ीक़त भी हमारे सामने है!

अपने ही बनाये संविधान से अम्बेडकर तो नाराज़ हो गये, पर दलितों को कोई वैकल्पिक मार्ग नहीं सुझा गये। हाथ में संविधान लिये उनकी मूर्ति आज भी देशव्यापी प्रतिष्ठाप्राप्त है। दलित-मुक्ति की कोई परियोजना समस्त शोषित-उत्पीड़ित मेहनतकशों के मुक्ति-संघर्ष के एक हिस्से के तौर पर ही आगे क़दम बढ़ा सकती है। लेकिन कम्युनिस्ट आन्दोलन की अपनी विचारधारात्मक कमज़ोरियों के अतिरिक्त डॉ. अम्बेडकर का संविधानवादी-क़ानूनवादी नज़रिये का व्यापक प्रभाव भी एक कारण है कि दलित जातियों के मेहनतकश जनसमुदाय की भारी आबादी के बीच बुर्जुआ संसदीय विभ्रम आज भी गहराई से जड़ जमाये हुए हैं जिनका लाभ उठाकर भाँति-भाँति की दलित बुर्जुआ राजनीतिक धाराएँ उभरती और विघटित होती रहती हैं और पूँजी के कुछ टुकड़ख़ोर चाकर दलित नेता का चोंगा पहनकर वोटों की फ़सल काटते रहते हैं तथा अपनी गोट लाल करते रहते हैं।

प्रश्न अम्बेडकर की नीयत और सदिच्छाओं का नहीं है। इतिहास में फ़ैसला इस बात से होता है कि नेता या सिद्धान्तकार-विशेष के सिद्धान्त या राजनीतिक विचार निर्दिष्ट लक्ष्य की पूर्ति में मददगार हैं अथवा नहीं!

इसी दृष्टि से डॉ. अम्बेडकर के विचारों और उनके सामाजिक-राजनीतिक अमल के वस्तुपरक विश्लेषण की ज़रूरत है! यहाँ संविधान-निर्माण में अम्बेडकर की भूमिका तथा संविधान और क़ानून के बारे में उनके विचारों का एक विश्लेषण इसी दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है।

दलित प्रश्न का समाधान न "राजकीय समाजवाद" है, न शहरीकरण, न धर्मान्तरण, न आरक्षण। बुर्जुआ वर्ग द्वारा तय की गयी संवैधानिक व क़ानूनी चौहद्दी के भीतर दलित मेहनतकश सिर्फ़ रियायतों की भीख पा सकता है तथा इस या उस सजातीय भ्रष्ट नेता या जातीय आधार पर गठित पार्टी का वोट बैंक बना रहकर मुक्ति पाने की मृग मरीचिका में भटकता रह सकता है। मुक्ति का एकमात्र व्यावहारिक मार्ग यही हो सकता है कि दलित जातियों के मेहनतकश वर्ग-संघर्ष में सर्वहारा पाँतों में अपनी ज़्यादा से ज़्यादा सक्रिय एवं प्रभावी दख़ल बनायें। संशोधनवादियों के कुकर्मों और पाखण्डों का पाप कम्युनिज़्म के सिद्धान्तों के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। कम्युनिस्ट आन्दोलन की तमाम विफलताओं के बावजूद, सच्चाई यह भी है कि देश में जहाँ भी कभी कम्युनिस्ट गाँव के ग़रीबों की लड़ाई लड़े हैं, वहाँ के ग़रीब दलित आज भी अधिक सम्मान से सिर उठाकर चलते हैं। मार्क्सवाद सहस्राब्दियों से मौजूद जाति-प्रश्न का चुटकी बजाते जादुई हल नहीं बताता। सर्वहारा राज्यसत्ता 'सबके लिए समान शिक्षा और रोज़गार के समान अवसर' की गारण्टी से समस्या के हल की दिशा में पहला बुनियादी क़दम उठायेगी। समाजवादी शिक्षा और संस्कृति अन्तर्जातीय 'रोटी-बेटी' के रिश्तों को भरपूर बढ़ावा देगी। जातिगत आधार पर जो सांस्कृतिक-सामाजिक पार्थक्य है, वह सतत् सांस्कृतिक क्रान्ति की एक लम्बी प्रक्रिया के बाद ही जड़ से नष्ट हो सकेगा। मेहनतकशों की राजनीतिक मुक्ति के क्रान्तिकारी संघर्ष में दलित मेहनतकशों की भागीदारी और आर्थिक-राजनीतिक संघर्ष के साथ सांस्कृतिक-सामाजिक आन्दोलन की अनिवार्य मौजूदगी – जाति प्रश्न के आमूलगामी समाधान की राह यहीं से फूटती है।

(अगले अंक में : भारतीय संविधान की अन्तर्वस्तु और उसके विविध पक्षों का विश्लेषण)

माँगपत्रक शिक्षणमाला–5

(पेज 10 से आगे)

ऊपर के किसी अधिकारी द्वारा मामले के पुनरीक्षण का प्रावधान हो। यह प्रक्रिया जल्दी से जल्दी पूरी करने की पक्की व्यवस्था की जाये। ऐसा करना इसलिए ज़रूरी है ताकि मनमाने ढंग से मालिकों के पक्ष में कम मुआवज़ा तय करने की प्रवृत्ति पर रोक लगायी जा सके।

भारत सरकार ने अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन के 'औद्योगिक दुर्घटनाओं की रोकथाम सम्बन्धी कन्वेंशन' पर जून 2008 में हस्ताक्षर किये हैं जिसमें स्पष्ट प्रावधान है कि सभी नियोक्ता सुरक्षा प्रणालियों और तकनीकी उपायों की पूरी व्यवस्था रखेंगे जिसमें कर्मचारियों का प्रशिक्षण, उनकी सुरक्षा के लिए सभी ज़रूरी साधन मुहैया करना, उचित संख्या में कर्मचारियों की तैनाती, काम के घण्टों का पालन करना आदि शामिल है। लेकिन ख़ुद राजधानी दिल्ली के दर्जनों औद्योगिक क्षेत्रों में ही इसका धड़ल्ले से उल्लंघन होता है, बाक़ी जगहों की तो बात ही क्या! इस पर अमल कराने की सरकार की मंशा ही नहीं है। तभी तो वर्ष 2005 में जापान जैसे छोटे से देश में जहाँ 3,000 फ़ैक्ट्री इंस्पेक्टर थे वहीं पूरे भारत में मात्र 300 फ़ैक्ट्री इंस्पेक्टर थे। और वैसे इनके होने का भी कोई मतलब नहीं है। क्योंकि सच्चाई यह है कि फ़ैक्टरियों के मालिक इन इंस्पेक्टरों की जेब गरम रखते हैं और उनसे जैसी चाहे वैसी रिपोर्ट तैयार करवा लेते हैं। जो सरकार भोपाल गैस काण्ड जैसे बड़े हत्याकाण्ड को अंजाम देने वालों पर आज तक न कोई कार्रवाई नहीं कर सकी है और न पीड़ितों को उचित मुआवज़ा दिला सकी है, वह कारख़ानों, निर्माण स्थलों और ग्रामीण क्षेत्रों में आये दिन होने वाली दुर्घटनाओं पर क्या करेगी। दुर्घटनाओं के शिकार मज़दूरों की चीखें और कराहें देश की तरक्क़ी के शोर-शराबे में दबा दी जाती हैं।

कार्यस्थल पर सुरक्षा के पूरे इन्तज़ाम और दुर्घटना होने की स्थिति में उचित मुआवज़ा हर मज़दूर का बुनियादी हक़ है। जो सरकार देश के करोड़ों मज़दूरों को यह बुनियादी हक़ भी नहीं दिला सकती उसे सरकार चलाने का कोई अधिकार नहीं है। मज़दूरों को समझना होगा कि अकेले-अकेले हम यह अधिकार बेशक नहीं हासिल कर सकते लेकिन अगर व्यापक मज़दूर आबादी एकजुट होकर आवाज़ उठायेगी तो सरकार पर दबाव बनाया जा सकता है। मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन–2011 ने देशभर के मज़दूरों को उनके हक़ों के बारे में जागरूक और इन हक़ों के लिए लड़ने के वास्ते एकजुट करने की शुरुआत कर दी है। आने वाली 1 मई को देश के अलग-अलग हिस्सों से आये हज़ारों मज़दूर दिल्ली में संसद पर प्रदर्शन करके सरकार के दरवाज़े पर पहली दस्तक देंगे।

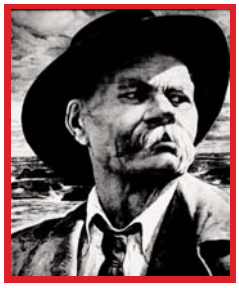

मक्सिम गोर्की के जन्मदिवस (28 मार्च) के अवसर पर उनकी एक कहानी

जियोवान्नी समाजवादी कैसे बना

अंगूरों के पुराने बगीचे की घनी अंगूर लताओं के बीच छिपी-सी सफेद कैण्टीन के दरवाजे के पास, हरिणपदी तथा छोटे-छोटे चीनी गुलाबों से जहाँ-तहाँ गुँथी इन्हीं लताओं के चँदवे के नीचे शराब की सुराही सामने रखे हुए दो आदमी मेज़ पर बैठे हैं। इनमें से एक हैं रंगसाज विंचेंत्सो और दूसरा है फिटर जियोवान्नी। रंगसाज नाटा-सा, दुबला-पतला और काले बालोंवाला है। उसकी काली आँखों में स्वप्नदर्शी की चिन्तनशील हल्की-हल्की मुस्कान की चमक है। यद्यपि उसने ऊपरवाले होंठ और गालों की इतनी कसकर हजामत बनायी है कि वे नीले-से हो गये हैं, तथापि मुक्त मुस्कान के कारण उसका चेहरा बच्चों जैसा और भोला-भाला प्रतीत होता है। उसका मुँह लड़की जैसा छोटा-सा और सुन्दर है, कलाइयाँ लम्बी-लम्बी हैं, गुलाब के सुनहरे फूल को वह अपनी चंचल-चपल उँगलियों में घुमा रहा है और फिर उसे अपने फूले-फूले होंठों के साथ सटाकर आँखें मूँद लेता है।

"हो सकता है – मुझे मालूम नहीं – हो सकता है!" कनपटियों पर दबे-से सिर को धीरे-धीरे हिलाते हुए वह कहता है और उसके चौड़े माथे पर ललछौंही केश-कुण्डल लटक आते हैं।

"हाँ, हाँ, ऐसा ही है। हम उत्तर की ओर जितना अधिक बढ़ते जाते हैं, उतने ही ज़्यादा धुन के पक्के लोग हमें मिलते हैं!" बड़े सिर, चौड़े-चकले कन्धों और काले घुँघराले बालोंवाला जियोवान्नी दृढ़तापूर्वक अपनी बात कहता है। उसका चेहरा ताँबे जैसी लालिमा लिये हुए है, उसकी नाक धूप में जली हुई है और उस पर मुरझायी-सी सफ़ेद झिल्ली चढ़ी हुई है। उसकी आँखें बैल की आँखों की तरह बड़ी-बड़ी और दयालु हैं और बाँये हाथ का अँगूठा ग़ायब है। उसका बोलने का ढंग भी मशीनी तेल और लोहे के बुरादे से सने हाथों की धीमी गतिविधि की तरह ही धीमा है। टूटे नाखूनोंवाली साँवली उँगलियों में शराब का गिलास पकड़े हुए वह भारी-भरकम आवाज़ में अपनी बात जारी रखता है :

"मिलान, तूरिन – ये हैं बढ़िया कारख़ाने, जहाँ नये किस्म के लोग ढाले जा रहे हैं, नये विचारोंवाले दिमाग़ जन्म ले रहे हैं। थोड़ा सब्र करो – हमारी दुनिया ईमानदार और समझदार हो जायेगी!"

"हाँ!" नाटे रंगसाज ने कहा और गिलास उठाकर सूर्य-किरण को शराब में घुलाते हुए गाने लगता है :

जीवन के प्रभात में कितनी
सुखद हमें धरती लगती,
किन्तु यही दुखमय बन जाती
उम्र हमारी जब ढलती।

"मैं कहता हूँ कि हम जितना अधिक उत्तर की ओर जाते हैं, काम भी उतना ही अधिक अच्छा होता जाता है। फ्रांसीसी ही वैसी काहिली का जीवन नहीं बिताते जैसा कि हम, उनके आगे जर्मन हैं और फिर रूसी – ये हैं असली लोग!"

"हाँ!"

"अधिकारहीन, आज़ादी और ज़िन्दगी से वंचित हो जाने के डर से उन्होंने बड़े-बड़े शानदार कारनामे कर दिखाये। इन्हीं की बदौलत तो सारे पूरब में ज़िन्दगी की लहर दौड़ गयी है!"

"बहादुरों का देश है!" रंगसाज ने सिर झुकाकर कहा। "यही मन होता है कि उनके साथ रहता..."

"तुम?" अपने घुटने पर हाथ मारते हुए रंगसाज चिल्ला उठा। "एक हफ्ते बाद बर्फ का डला बनकर रह जाते!"

दोनों खुशमिज़ाजी से खुलकर हँस दिये।

इनके चारों ओर नीले और सुनहरे फूल थे, हवा में सूर्य-किरणों के फीते-से थरथरा रहे थे, सुराही और गिलासों के पारदर्शी शीशे में से गहरे लाल रंग की शराब लौ दे रही थी और दूर से सागर की रेशमी-सी सरसराहट सुनायी पड़ रही थी।

"मेरे नेकदिल दोस्त विंचेंत्सो," खुली मुस्कान के साथ फिटर ने कहा, "तुम कविता में यह बयान करो कि मैं समाजवादी कैसे बना? तुम यह किस्सा जानते हो न?"

"नहीं तो," रंगसाज ने गिलासों में शराब डालते और मदिरा की लाल धारा को देखकर मुस्कराते हुए कहा, "तुमने कभी इसकी चर्चा ही नहीं की। यह तो तुम्हारी हड्डियों में ऐसे रचा हुआ है कि मैंने सोचा – तुम ऐसे ही पैदा हुए थे।"

"मैं वैसे ही नंगा और बुद्धू पैदा हुआ था, जैसे तुम और बाकी सभी लोग। जवानी में मैं अमीर बीवी के सपने देखता रहा और फौज में जाकर इसलिए खूब पढ़ाई करता रहा कि किसी तरह अफसर बन जाऊँ। मैं तेईस साल का था जब मैंने यह अनुभव किया कि दुनिया में ज़रूर कुछ गड़बड़-घोटाला है और उल्लू बने रहना शर्म की बात है!"

रंगसाज ने मेज़ पर कोहनियाँ टिका दीं, सिर ऊपर को कर लिया और पहाड़ की तरफ़ देखने लगा जिसके सिरे पर अपनी शाखाओं को झुलाते हुए विराट सनोबर खड़े थे।

"हमें यानी हमारी फौज कम्पनी को बोलोन्या भेजा गया। वहाँ किसानों में हलचल हो गयी थी। उनमें से कुछ यह माँग करते थे कि मालगुजारी कम की जाये और दूसरे यह चीखते थे कि उनकी मज़दूरी बढ़ायी जाये। मुझे लगा कि दोनों ही ग़लत हैं। मालगुजारी कम की जाये, मज़दूरी बढ़ायी जाये – कैसी बेवकूफी की बात है यह! – मैंने सोचा। ऐसा करने से तो जमींदार तबाह हो जायेंगे। मुझे, शहर के रहनेवाले को तो यह बकवास और बड़ी बेतुकी बात लगी। सो मैं बुरी तरह झल्ला उठा, बेहद गर्मी, एक जगह से दूसरी जगह पर लगातार दौड़-धूप और रातों को पहरेदारी – इन सब चीज़ों ने आग में घी डालने का काम किया। वे किसान पट्ठे तो ज़मींदारों की मशीनें तोड़ते-फोड़ते थे और साथ ही उन्हें अनाज तथा ज़मींदारों की दूसरी चीजों को आग लगा देना भी अच्छा लगता था।"

उसने छोटे-छोटे घूँट भरते हुए शराब पी और पहले से भी ज़्यादा रंग में आकर कहता गया :

"वे भेड़-बकरियों के रेवड़ों की तरह भीड़ बनाकर खेतों में घूमते थे, लेकिन चुपचाप, रौद्र मुद्रा बनाये और काम-काजी ढंग से। हम उन्हें संगीनें दिखाकर और कभी-कभी बन्दूकों के कुन्दों से धकेलकर खदेड़ देते। वे तो डरे-सहमे बिना धीरे-धीरे तितर-बितर होते और फिर से इकट्ठे हो जाते। यह दोपहर की प्रार्थना के समान बड़ा ऊबभरा मामला था और जुड़ी के बुखार की तरह क़िस्सा हर दिन लम्बा ही होता चला गया। अब्रूत्से का रहनेवाला हमारा कार्पोरल, जो खुद भी किसान था और बहुत भला नौजवान था, बड़ा दुखी हो उठा, उसका रंग पीला पड़ गया, वह दुबला गया और वह बार-बार यह कहता रहता था :

"'बड़ी अटपटी स्थिति है, मेरे प्यारो! बेड़ा गर्क, लेकिन लगता यही है कि हमें गोलियाँ चलानी पड़ेंगी।'

"उसकी ऐसी बड़बड़ाहट से हम और भी बौखला गये। और इसी बीच हर कोने, हर टीले और पेड़ के पीछे से अड़ियल-जिद्दी किसानों के चेहरे दिखायी देते थे, उनकी गुस्से से जलती आँखें हमें चुभती-सी प्रतीत होतीं। ज़ाहिर है कि वे लोग दुश्मन की नज़र से देखते थे।"

"पियो!" नाटे विंचेंत्सो ने शराब से भरा हुआ गिलास अपने मित्र की तरफ़ स्नेहपूर्वक बढ़ाते हुए कहा।

"शुक्रिया, और ज़िन्दाबाद धुन के पक्के लोग!" फिटर ने एक ही साँस में गिलास खाली कर दिया, हथेली से मूँछें पोंछी और कहानी को आगे कहता चला गया :

"एक दिन मैं जैतून के पेड़ों के झुरमुट के पास खड़ा हुआ पेड़ों की रखवाली कर रहा था। बात यह थी कि किसान पेड़ों को भी नहीं बख़्शते थे। टीले के नीचे के दो किसान – एक बूढ़ा और दूसरा छोकरा-सा काम कर रहे थे, खाई खोद रहे थे। बेहद गर्मी थी, सूरज आग बरसा रहा था, यही मन होता था कि आदमी मछली बन जाये! मुझे बड़ी ऊब महसूस हो रही थी और अभी तक याद है कि बहुत ही गुस्से से मैं इन लोगों की तरफ़ देखता रहा था। दोपहर होने पर इन्होंने काम बन्द किया, डबल रोटी, पनीर और शराब से भरी सुराही निकाली। तुम पर शैतान की मार – मैंने सोचा। अचानक क्या हुआ कि बूढ़े ने, जिसने अब तक मेरी तरफ़ एक बार भी देखने की तकलीफ़ नहीं की थी, छोकरे से कुछ कहा। छोकरे ने इन्कार करते हुए सिर हिला दिया। तब बूढ़ा बहुत कड़ाई से चिल्लाकर बोला :

"'जाओ!'

"छोकरा सुराही हाथ में लिये हुए मेरे पास आया और कहना चाहिए कि बहुत मन मारकर बोला :

"'मेरे पिताजी का ख़याल है कि आपको प्यास लगी है और चाहते हैं कि आप शराब पी लें।'

"बड़ी अजीब, किन्तु सुखद बात थी। मैंने बूढ़े की ओर सिर झुकाकर और इस तरह उसे धन्यवाद देकर शराब पीने से इन्कार कर दिया। बूढ़े ने आकाश की ओर देखते हुए जवाब दिया :

"'पी लीजिये महानुभाव, पी लीजिये। हम सैनिक को नहीं मानव को यह भेंट कर रहे हैं और इसकी तनिक भी आशा नहीं रखते हैं कि हमारी शराब पीकर सैनिक कुछ दयालु हो जायेगा।'

"'ऐसा डंक तो न मारो, शैतान के बच्चे!' मैंने सोचा और कोई तीन घूँट शराब पीकर उन्हें धन्यवाद दिया और वहाँ नीचे, टीले के दामन में वे दोनों भोजन करने लगे। कुछ ही देर बाद सालेरनो का रहनेवाला ऊगो मेरी जगह ड्यूटी पर आ गया। मैंने उससे कहा कि ये दोनों किसान दयालु हैं। उसी शाम को मैं उस बाड़े के दरवाजे के पास खड़ा था जिसमें मशीनें रखी जाती थीं। तभी क्या हुआ कि छत से एक टाइल मेरे सिर पर आकर लगी। वह तो बहुत ज़ोर से नहीं लगी, लेकिन दूसरी टाइल इतने ज़ोर से कन्धे पर आकर गिरी कि मेरा बायाँ हाथ सुन्न हो गया।"

फिटर खूब मुँह खोलकर और आँखें सिकोड़कर ज़ोर से हँस पड़ा।

"उन दिनों वहाँ टाइलों, पत्थरों और लाठियों में भी मानो जान आ गयी थी," उसने हँसते हुए ही कहा, "इन बेजान चीज़ों ने भी हमारे सिरों की काफ़ी बड़े-बड़े गुमटों से शोभा बढ़ा दी थी। होता क्या था कि कोई सैनिक चला जा रहा है या कहीं खड़ा है, अचानक जमीन फाड़कर कोई लाठी उस पर बरस पड़ती या फिर आसमान से कोई पत्थर उस पर आ गिरता। ज़ाहिर है कि हम खूब जल-भुन गये थे।"

नाटे रंगसाज की आँखों में उदासी झलक उठी, उसका चेहरा फक हो गया और उसने धीमे-से कहा :

"ऐसी बातें सुनकर हमेशा शर्म महसूस होती है..."

"लेकिन किया क्या जाये! लोगों को अक्ल भी बहुत धीरे-धीरे आती है न! तो आगे सुनो – मैंने मदद के लिए चीख-पुकार की। मुझे एक ऐसे घर में ले जाया गया, जहाँ हमारा एक अन्य सैनिक पहले से ही लेटा हुआ था। पत्थर लगने से उसका चेहरा घायल हो गया था। जब मैंने उससे पूछा कि यह कैसे हुआ तो उसने मरे-मरे ढंग से हँसते हुए जवाब दिया:

"'साथी, सफ़ेद झोंटेवाली एक चुड़ैल बुढ़िया ने पत्थर दे मारा,' और फिर बोली – 'मुझे मार डालो।'

"'उसे गिरफ्तार कर लिया गया?'

"'नहीं, क्योंकि मैंने कहा कि मैं खुद ही गिर गया था और मुझे ऐसे ही चोट लग गयी है। कमाण्डर ने मेरी बात का यक़ीन नहीं किया, यह उसकी आँखें कह रही थीं। लेकिन आप मेरे साथ सहमत होंगे कि बुढ़िया ने मेरा यह हुलिया बन दिया है, ऐसा मानना भी तो बड़ा अटपटा लगता है। शैतान की नानी! उन पर भारी गुज़रती है और यह समझना भी कुछ मुश्किल नहीं कि हम भी उन्हें फूटी आँखों नहीं सुहाते।'

"'बात ऐसा ही है!' मैंने सोचा। डाक्टर और उसके साथ दो महिलायें पधारीं। उनमें से एक बहुत ही सुन्दर थी, स्वर्णकेशी, शायद वेनिस की रहनेवाली। दूसरी के बारे में मुझे कुछ याद नहीं। उन्होंने मेरी चोट की जाँच-पड़ताल की। बेशक बड़ी मामूली-सी बात थी, उन्होंने उस पर पट्टी बाँध दी और चले गये।"

फिटर के माथे पर बल पड़ गये, वह कुछ देर तक खामोश रहा और उसने जोर से हाथों को मला। उसके साथी ने गिलास में फिर से शराब डाल दी। शराब डालते समय उसने सुराही को ऊँचा उठाया और शराब लाल, सजीव धारा की तरह हवा में थिरकती रही।

"हम दोनों खिड़की के पास बैठ गये," फिटर उखड़े-उखड़े-से अन्दाज़ में कहता गया, "सो भी धूप से बचकर। अचानक हमें सुनहरे बालोंवाली सुन्दरी की प्यारी-सी आवाज़ सुनायी दी। वह अपनी सहेली और डाक्टर के साथ बाग़ में से जाते हुए फ़्रांसीसी भाषा में, जो मैं बहुत अच्छी तरह समझता हूँ, यह कह रही थी:

"'आप लोगों ने ध्यान दिया कि उसकी आँखें कैसी हैं? स्पष्ट है कि वह भी किसान है और सैन्य-सेवा खत्म होने पर हमारे यहाँ के अन्य सभी किसानों की तरह शायद वह भी समाजवादी बन जायेगा। और ऐसी आँखोंवाले लोग सारी दुनिया को जीत लेना चाहते हैं, जीवन को बिल्कुल नया रंग-रूप देना चाहते है, हमें कहीं खदेड़ देना, नष्ट कर देना चाहते हैं और वह इसलिए किसी अन्धे और ऊबभरे न्याय की जीत का डंका

(पेज 15 पर जारी)

जियोवान्नी समाजवादी कैसे बना

(पेज 14 से आगे)

बज जाये!'

"'बुद्धू लोग हैं,' डाक्टर ने राय ज़ाहिर की, 'कुछ-कुछ बच्चे, कुछ-कुछ जानवर।'

"'जानवर हैं – यह तो सही है। लेकिन उनमें बच्चों जैसा क्या है?'

"'सभी की समानता के ये सपने...'

"'ज़रा सोचिये तो – मैं समान हूँ बैल जैसी आँखोंवाले इस नौजवान या परिन्दे जैसे चेहरेवाले उस दूसरे नौजवान के। या फिर हम सभी – आप, मैं और यह, हम समान हैं इन घटिया खूनवालों के! जिन लोगों को अपने जैसों की पिटाई का काम सौपा जा सकता है, वे उन्हीं की तरह जानवर हैं...'

"वह बहुत जोश से बहुत कुछ कहती गयी और मैं सुनता हुआ सोचता रहा – 'अरे वाह, देवी जी!' मैंने उसे कई बार पहले भी देखा था और बेशक तुम तो यह जानते ही हो कि शायद ही कोई सैनिक की तरह औरत के सपने देखता हो। ज़ाहिर है कि मैंने कहीं अधिक दयालु, समझदार और नेकदिल औरत के रूप में उसकी कल्पना की थी। उस समय मुझे ऐसा लगता था कि कुलीन तो विशेष रूप से बुद्धिमान लोग होते हैं।

"मैंने अपने साथी से पूछा – 'तुम यह भाषा समझते हो?' नहीं, वह फ़्रांसीसी नहीं जानता था। तब मैंने उसे वह सबकुछ बताया जो स्वर्णकेशी ने कहा था। मेरा साथी तो गुस्से से लाल-पीला हो गया, अपनी आँख से – दूसरी पर पट्टी बँधी थी – चिंगारियाँ-सी छोड़ते हुए कमरे में गुस्से से उछलने-कूदने लगा।

"'भई वाह!' वह बुदबुदाया। 'भई वाह! वह मुझसे अपना उल्लू सीधा करवाती है और मुझे इन्सान ही नहीं मानती! मैं इसकी ख़ातिर अपनी मान-मर्यादा को अपमानित होने देता हूँ और यही उससे इन्कार करती है! इसकी दौलत-जायदाद की रक्षा के लिए मैं अपनी आत्मा की हत्या का जोखिम उठा रहा हूँ और...'

"वह कुछ मूर्ख नहीं था और उसने अपने को अत्यधिक अपमानित अनुभव किया, मैंने भी। अगले दिन हमने किसी तरह का संकोच किये बिना इस महिला के बारे में ऊँचे-ऊँचे अपनी राय ज़ाहिर की। लुओतो ने केवल दबी ज़बान में बुदबुदाते हुए कुछ कहा और हमें यह सलाह दी :

"'सावधानी से काम लो, मेरे प्यारो! यह नहीं भूलना कि तुम फौजी हो और तुम्हारे लिये अनुशासन नाम की भी कोई चीज़ है!'

"नहीं, हम यह नहीं भूले थे। लेकिन हममें से बहुतों ने, सच कहा जाये, तो लगभग सभी ने अपने कान बन्द कर लिये, आँखें मूँद लीं और हमारे किसान दोस्तों ने हमारे इस तरह अन्धे-बहरे हो जाने का ख़ूब अच्छा फ़ायदा उठाया। उन्होंने बाजी जीत ली। बहुत ही अच्छी तरह से पेश आते थे वे हमारे साथ। वह सुनहरे बालोंवाली सुन्दरी उनसे बहुत कुछ सीख सकती थी। उदाहरण के लिए वे उसे बहुत ही अच्छी तरह यह सिखा सकते थे कि सच्चे और ईमानदार लोगों का कैसे आदर किया जाना चाहिए। जहाँ हम ख़ून बहाने के इरादे से गये थे, वहीं से जब विदा हुए तो हममें से बहुतों को फूल भेंट किये गये। जब हम गाँव की सड़कों पर से गुज़रते तो अब हम पर पत्थर और टाइलें नहीं, बल्कि फूल बरसाये जाये थे, मेरे दोस्त। मेरे ख़्याल में हम इसके लायक़ थे। मधुर विदाई को याद करते हुए बुरे स्वागत को भुलाया जा सकता है!"

वह हँस पड़ा और फिर बोला :

"तुम्हें यह सबकुछ कविता में बयान करना चाहिए, विंचेंत्सो..."

रंगसाज ने सोचभरी मुस्कान के साथ उत्तर दिया :

"हाँ, लम्बी कविता के लिए यह अच्छी सामग्री है। मुझे लगता है कि मैं ऐसा कर पाऊँगा। पच्चीस बरस की उम्र पार कर लेने के बाद आदमी अच्छे प्रेम-गीत नहीं लिख पाता।"

मुरझा चुके फूल को फेंककर उसने दूसरा फूल तोड़ लिया और सभी ओर नज़र दौड़ाकर धीरे-धीरे कहता गया :

"माँ की छाती से प्रेमिका की छाती तक का रास्ता तय करने के बाद आदमी को दूसरे, नये सुख की ओर बढ़ना चाहिए..."

फिटर ने कोई राय ज़ाहिर नहीं की, गिलास में शराब को ही हिलाता रहा। अंगूर के बगीचों के पीछे, वहाँ नीचे, सागर धीरे-धीरे मरमर ध्वनि कर रहा था, गर्म हवा में फूलों की भीनी-भीनी सुगन्ध तैरती आ रही थी।

"यह तो सूरज ही है जो हमें इतना अधिक काहिल और नर्मदिल बना देता है," फिटर बुदबुदाया।

"मुझसे अच्छे प्रेम-गीत नहीं रच जाते, मैं बहुत नाख़ुश हूँ अपने से," अपनी पतली-पतली भौंहें सिकोड़कर विंचेंत्सो ने धीमी आवाज़ में कहा।

"तुमने कुछ नया रचा?"

रंगसाज ने तुरन्त उत्तर नहीं दिया और फिर बोला :

"हाँ, कल 'कोमो' होटल की छत पर।" और धीमी-धीमी, सोच में डूबी तथा लयबद्ध आवाज़ में सुनाने लगा:

सूना तट है, भूरी-भूरी और पुरातन चट्टानों से
शिशिर-सूर्य सस्नेह बिछुड़ता विदा ले रहा पाषाणों से,
आतुर लहरें झपट रहीं हैं काले पाषाणों पर, तट पर
स्नान कराती ये सूरज को नीले सागर में ले जाकर,
ताम्र-पात वे जिनको चंचल पतझर-पवन उड़ाकर लाया
रंग-बिरंगे मृत विहगों-सी झलकें जल में उनकी छाया
शोक-व्यथित है पीला अम्बर, है उदास उद्वेलित सागर
केवल मुस्काता है दिनकर जो विश्राम करेगा थककर।

दोनों बहुत देर तक ख़ामोश रहे, रंगसाज सिर झुकाये हुए ज़मीन को ताकता रहा, हट्टा-कट्टा और लम्बा-तड़ंगा फिटर मुस्कराया और बोला:

"सभी चीज़ों को सुन्दर अभिव्यक्ति दी जा सकती है, किन्तु अच्छे व्यक्ति, अच्छे लोगों के बारे में सुन्दर शब्दों, सुन्दर गीतों से बढ़कर कुछ भी नहीं!"

अन्तरराष्ट्रीय स्त्री दिवस (8 मार्च) के अवसर पर

रुको, ठहरो और सुनो
हमारी शक्ति की आवाज़
हृदय की मौन पुकार,
हम सक्षम हैं, सक्षम हैं,
सक्षम हैं।

कोटि-कोटि हाथों की ताक़त में
जोड़ दो अपनी ताक़त
आने दो ज्वार बदलाव का
बढ़ती चलो, आगे
नये वक़्त, नयी जगह
अपने ही बनाये नये युग की ओर।
खिलने दो क्रोध के फूल
बिखरने दो अंगारे
कुचल दो सख़्ती से उस अन्याय को
भोगती आयी हैं जिसे सब औरतें
और दलित वर्ग सारे।

भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु की शहादत की 80वीं बरसी पर

जनता की सर्वोपरि सत्ता की स्थापना श्रमिक वर्ग का अन्तिम लक्ष्य है

"समाज का प्रमुख अंग होते हुए भी आज मज़दूरों को उनके प्राथमिक अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और उनकी गाढ़ी कमाई का सारा धन शोषक पूँजीपति हड़प जाते हैं। दूसरों के अन्नदाता किसान आज अपने परिवार सहित दाने-दाने के लिए मुहताज हैं। दुनियाभर के बाज़ारों को कपड़ा मुहैया करने वाला बुनकर अपने तथा अपने बच्चों के तन ढँकनेभर को भी कपड़ा नहीं पा रहा है। सुन्दर महलों का निर्माण करने वाले राजगीर, लोहार तथा बढ़ई स्वयं गन्दे बाड़ों में रहकर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर जाते हैं। इसके विपरीत समाज के जोंक शोषक पूँजीपति ज़रा-ज़रा-सी बातों के लिए लाखों का वारा-न्यारा कर देते हैं।

"यह भयानक असमानता और ज़बरदस्ती लादा गया भेदभाव दुनिया को एक बहुत बड़ी उथल-पुथल की ओर लिये जा रहा है। यह स्थिति अधिक दिनों तक क़ायम नहीं रह सकती। स्पष्ट है कि आज का धनिक समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुख पर बैठकर रंगरेलियाँ मना रहा है और शोषकों के मासूम बच्चे तथा करोड़ों शोषित लोग एक भयानक खड्ड की कगार पर चल रहे हैं।

"सभ्यता का यह प्रासाद यदि समय रहते सँभाला न गया तो शीघ्र ही चरमराकर बैठ जायेगा। देश को एक आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। और जो लोग इस बात को महसूस करते हैं उनका कर्त्तव्य है कि साम्यवादी सिद्धान्तों पर समाज का पुनर्निर्माण करें। जब तक यह नहीं किया जाता और मनुष्य द्वारा मनुष्य का तथा एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण, जिसे साम्राज्यवाद कहते हैं, समाप्त नहीं कर दिया जाता तब तक मानवता को उसके क्लेशों से छुटकारा मिलना असम्भव है, और तब तक युद्धों को समाप्त कर विश्व-शान्ति के युग का प्रादुर्भाव करने की सारी बातें महज ढोंग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। क्रान्ति से हमारा मतलब अन्ततोगत्वा एक ऐसी समाज-व्यवस्था की स्थापना से है जो इस प्रकार के संकटों से बरी होगी और जिसमें सर्वहारा वर्ग का आधिपत्य सर्वमान्य होगा। और जिसके फलस्वरूप स्थापित होने वाला विश्व-संघ पीड़ित मानवता को पूँजीवाद के बन्धनों से और साम्राज्यवादी युद्ध की तबाही से छुटकारा दिलाने में समर्थ हो सकेगा।

"यह है हमारा आदर्श। और इसी आदर्श से प्रेरणा लेकर हमने एक सही तथा पुरज़ोर चेतावनी दी है। लेकिन अगर हमारी इस चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया गया और वर्तमान शासन-व्यवस्था उठती हुई जनशक्ति के मार्ग में रोड़े अटकाने से बाज न आयी तो क्रान्ति के इस आदर्श की पूर्ति के लिए एक भयंकर युद्ध का छिड़ना अनिवार्य है। सभी बाधाओं को रौंदकर आगे बढ़ते हुए उस युद्ध के फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र की स्थापना होगी। यह अधिनायकतन्त्र क्रान्ति के आदर्शों की पूर्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा। क्रान्ति मानवजाति का जन्मजात अधिकार है जिसका अपहरण नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्रता प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। श्रमिक वर्ग ही समाज का वास्तविक पोषक है, जनता की सर्वोपरि सत्ता की स्थापना श्रमिक वर्ग का अन्तिम लक्ष्य है। इन आदर्शों के लिए और इस विश्वास के लिए हमें जो भी दण्ड दिया जायेगा, हम उसका सहर्ष स्वागत करेंगे। क्रान्ति की इस पूजा-वेदी पर हम अपना यौवन नैवेद्य के रूप में लाये हैं, क्योंकि ऐसे महान आदर्श के लिए बड़े से बड़ा त्याग भी कम है। हम सन्तुष्ट हैं और क्रान्ति के आगमन की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

"इन्क़लाब ज़िन्दाबाद!"

– भगतसिंह, सेशन कोर्ट में बयान, (6 जून, 1929)

ग़द्दार भितरघातियों के विरुद्ध गोरखपुर के मज़दूरों का क़ामयाब संघर्ष

विशेष संवाददाता

बरगदवा औद्योगिक क्षेत्र, गोरखपुर के मज़दूरों ने पिछले दिनों एक ऐसा लम्बा संघर्ष चलाया जिससे उन्हें बहुत ज़रूरी सबक सीखने को मिले। अभी तक तो मज़दूर केवल कारख़ानेदारों और प्रशासन तथा पूँजीवादी नेताओं से ही दो-दो हाथ कर रहे थे लेकिन पहली बार उन्होंने एक ऐसे दुश्मन के ख़िलाफ़ सफलतापूर्वक संघर्ष चलाया जो उनके बीच से ही पैदा हुआ था।

लम्बे संघर्ष के बाद बरगदवा के मज़दूरों ने 'टेक्सटाइल वर्कर्स यूनियन' नाम से अपनी क्रान्तिकारी ट्रेड यूनियन गठित की थी जिसकी कई कारख़ानों में इकाइयाँ हैं। आर्थिक संघर्षों के साथ-साथ यूनियन ने मज़दूरों के बीच लगातार राजनीतिक शिक्षा और प्रचार का काम जारी रखा था। गोरखपुर के उद्योगपतियों की निगाह में यूनियन लगातार खटक रही थी और वे किसी न किसी तरह इसे कमज़ोर करने की तीन-तिकड़म करने में लगे हुए थे। उनका हर हथकण्डा नाकाम रहा पर आख़िरकार कुछ समय तक उनके हाथ एक ऐसा हथियार लग गया जिससे मज़दूर आन्दोलन अतीत में भी बार-बार चोट खाता रहा है। यह हथियार था भितरघात का हथियार। मगर मज़दूरों ने अपनी एकता और राजनीतिक दृढ़ता की बदौलत इस चाल को भी नाकाम कर दिया। 20 फ़रवरी से 19 मार्च 2011 तक चले इस संघर्ष में मज़दूरों ने पिछले दो वर्षों के दौरान जमा हुई गन्दगी से एक हद तक मुक्ति पायी है।

ट्रेडयूनियनवाद, संकीर्णतावाद, ग़ैर-जनवाद की यह गन्दगी तीन मज़दूर प्रतिनिधियों पंकज, समरनाथ और विनोद पाण्डेय के रूप में अंकुर उद्योग में पैदा हुई थी। यूँ तो इन तीनों के आचार-विचार, व्यवहार में पिछले एक साल से गम्भीर परिवर्तन देखने में आ रहे थे, लेकिन ख़ास तौर पर पिछले छह-सात महीनों के दौरान स्थितियाँ काफ़ी बिगड़ गयी थीं। इन्होंने अन्य मज़दूर प्रतिनिधियों को निष्क्रिय घोषित करते हुए पूरी की पूरी कमेटी व्यवस्था को ही किनारे लगा दिया था। गेट मीटिंगों में मज़दूरों को डाँट-डपट कर चुप करा देना, गाली-गलौज, धमकाना और इस तरह अपनी सत्ता की दहशत कायम करना इनकी कार्यशैली बन चुकी थी। इनकी जीवनशैली भी तेजी से बदल रही थी। मज़दूरों से दारू, मुर्गा, पार्टियों की माँग करना, कार्ड बनवाने के लिए घूस लेना जैसे काम भी इन्होंने शुरू कर दिये थे। इनके आचारण पर जब कभी इनसे बात करने की कोशिश की गयी तो इन्हें बेहद ख़राब लगता और उल्टे ये बिगुल मज़दूर कार्यकर्ताओं को नसीहत देते कि छोटी-छोटी बातों को मुद्दा न बनाया जाये। झूठी मान-सम्मान-प्रतिष्ठा की भूख इनमें इतनी ज़्यादा जाग गयी थी कि ये लोग रातो-रात बड़े दबंग नेता बनने का सपना देखने लगे। बिगुल टीम को अपनी राह का रोड़ा जान इन्होंने अन्य दलाल नेताओं से सम्पर्क साधा और उन्हें कम्पनी में घुसाने की कोशिश की। लेकिन आम मज़दूरों के खतरा भाँप लेने से कुछ वक़्त के लिए ये तीनों चुप लगा गये। इन्हें यह समझ आ गया था कि जब तक बिगुल मज़दूर कार्यकर्ता रहेंगे तब तक इनकी दाल गलने वाली नहीं है। आगे के पूरे घटनाक्रम से यह बात सिद्ध भी हो गयी। इन्होंने बहुत सोच-विचार कर षड्यन्त्र रचने का काम किया। इन्होंने सबसे पहले यह भ्रम फैलाना शुरू किया कि यूनियन का सारा फण्ड बिगुल मज़दूर कार्यकर्ताओं द्वारा खर्च किया जाता है। जबकि सच्चाई यह थी कि यूनियन की कम्पनी इकाइयों के फण्ड का सारा पैसा और हिसाब-किताब पहले भी और आज भी यूनियन के कम्पनी कोषाध्यक्षों के पास रहता है। अपने इस दुष्प्रचार के आधार पर इन्होंने कुछ मज़दूरों का समर्थन हासिल कर लिया था। (हालाँकि जल्दी ही इनका झूठ साबित हो गया और पता चला कि स्वयं इन्होंने चन्दे का एक लाख चौवन हज़ार रुपये डकार लिया है)। इतना ही नहीं माँगपत्रक आन्दोलन के बारे में तरह-तरह का डर-भय पैदा कर मज़दूरों और बिगुल कार्यकर्ताओं के बीच खाई बनाने की कोशिश की गयी। इन्होंने अपने षड्यन्त्र को अमली जामा पहनाने के लिए 20 फ़रवरी 2011 को फर्टिलाइज़र ग्राउण्ड में एक मीटिंग बुलवायी। इस मीटिंग में एक वकील को भी गुपचुप तरीके से बुलवाया गया जिसकी जानकारी आम मज़दूरों को तो दूर कार्यकारिणी तक को नहीं दी गयी। वैसे इन तीनों का बेशर्म तर्क था कि मीटिंग केवल बिगुल कार्यकर्ताओं से बात करने के लिए बुलायी गयी थी लेकिन ये लोग अन्य फ़ैक्टरी मज़दूर प्रतिनिधियों को भी जगह-जगह अपने दुष्प्रभाव में लेने की लगातार कोशिश में लगे थे। मज़ेदार बात तब रही जब मज़दूरों को यह पता चला कि एक दलाल वकील जो पहले भी कई आन्दोलनों को बेचने का काम कर चुका था, इनका प्रमुख सलाहकार बना हुआ है।

20 फ़रवरी की मीटिंग में जिन सवालों को उछाला गया उन पर ग़ौर करना हम सभी के लिए शिक्षाप्रद होगा।

पहला सवाल – "बिगुल वाले कहाँ से आये? ये क्या करना चाहते हैं?" सभी मज़दूर जानते हैं कि ये सवाल दो साल पुराने हैं जिन्हें यहाँ के उद्योगपतियों के संगठन, एक भूतपूर्व मेयर, सदर सांसद, डीएलसी तथा प्रशासन ने मज़दूरों के आन्दोलन को बदनाम और कमज़ोर करने के लिए उछाला था? क्या कारण है कि शैतानों की यह तिकड़ी दो साल बाद ठीक उन्हीं-उन्हीं सवालों को उठा रही है। वैसे ये मज़दूरों को जितना मूर्ख समझते है, मज़दूर इनके अनुमान से कई ज़्यादा समझदार हैं। आज स्वयं अंकुर के मज़दूर इनसे पूछ रहे हैं कि दो साल तक तुम्हारे सवाल कहाँ थे? और क्या वजह है कि जैसे ही माँगपत्रक आन्दोलन के फण्ड का हिसाब माँगा गया और सभी पैसा जमा करने को कहा गया वैसे ही तुम्हारे सवाल उठने लगे।

दूसरा सवाल – "आन्दोलन से कारख़ाने बन्द हो जायेंगे।" यह नारा भी चैम्बर ऑफ़ इण्डस्ट्रीज़ तथा सभी मज़दूर विरोधी ताक़तों का सर्वप्रिय नारा है और इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं कि ग़द्दारों की यह तिकड़ी आज मज़दूरों की आगे बढ़ती हुई ताकत को रोकने के लिए इसका इस्तेमाल करना चाहती है। अगर आन्दोलन से कारख़ाना बन्द होता तो पवन बथवाल का कारखाना आज भी क्यों और कैसे चल रहा है? हक़ीकत में होता यह है कि जहाँ मज़दूर जागरूक और संगठित होने लगते हैं वहाँ पूँजीपति अपने कारख़ाने दूसरे इलाक़ों में ले जाने की तैयारियाँ करने लगते हैं। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि यूनियन या अन्य प्रकार के मज़दूर संगठन न बनाये जायें बल्कि इससे यही नतीजा निकलता है कि केवल कुछ फैक्ट्रियों या कुछ इलाक़ों में मज़दूर संगठन बनाने से काम नहीं चलेगा बल्कि मज़दूरों को पूरे देश के पैमाने पर संगठन बनाने का काम करना होगा। इतना ही नहीं उन्हें शहर और गाँव के ग़रीबों, निम्न मध्यवर्ग तथा उजड़ते किसानों को भी अपने साथ लेना होगा। इस तरह मज़दूर आन्दोलन को ट्रेड यूनियनों की चारदीवारी से बाहर निकलकर पूरे जनता के आन्दोलन से अपने आप को जोड़ना होगा और सभी दमित, शोषित, उत्पीड़ित तबकों के संघर्षों से अपने आप को जोड़ लेना होगा। लेकिन दो कौड़ी के पंकज जैसे दलाल ग़द्दार इस सच्चाई को समझने में हमेशा से असमर्थ थे। इन जैसे लोगों को लगता है कि कुछ चीज़ों को छोड़कर हमें ज़्यादातर चीजें मिल चुकी हैं। अब हमें बस अपने मालिक और उसकी फ़ैक्टरी पर ध्यान देना चाहिए। मज़दूरों का राज कभी नहीं आ सकता। मज़दूर भेड़ होते हैं और उनमें अक्ल की कमी होती है। ये वो सारी बाते हैं जिन्हें ये तीनों आम सभाओं से लेकर गेट मीटिंगों में लगातार बोलते रहे हैं और यही कारण है कि इन लोगों ने मज़दूरों के सबसे व्यापक, सबसे बड़े और सबसे पवित्र लक्ष्य मज़दूर इंकलाब से जुड़ने के बजाय दलाली और ग़द्दारी की राह पकड़ ली।

तीसरा सवाल – "बिगुल के कार्यकर्ता नास्तिक हैं।" एक आम मज़दूर भी यह जानते हैं कि पंकज ने अपने दो अन्य गद्दार साथियों को बचाने के लिए सबके सामने मन्दिर में झूठी कसम उठायी। समरनाथ ने चन्दा घोटाले पर पर्दा डालने के लिए शिवरात्रि आयोजन का प्रस्ताव किया और जिस दिन हिसाब देने के लिए बुलाया गया उस दिन अपने पिताजी के गम्भीर रूप से बीमार होने की बात कहकर इलाक़े से ही ग़ायब हो गया। बाद में समरनाथ के पिताजी ने स्वयं बताया, जब वे घर का सामान लेने के लिए कोइरी टोला आये थे, कि मैं एकदम स्वस्थ हूँ और मुझे कुछ नहीं हुआ था। असल में इनका एक ही ईश्वर है और वह है रुपया और कारख़ानेदार की कृपादृष्टि। वैसे भी हम यह बता दें कि नास्तिक या आस्तिक होना पूरी तरह व्यक्तिगत आज़ादी का सवाल है। बिगुल मज़दूर कार्यकर्ताओं ने पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि शिवरात्रि का त्योहार मनाने के लिए मज़दूर अलग से आयोजन समिति बना लें। यूनियन के मंच का इस्तेमाल किसी भी किस्म के धार्मिक, जातीय अथवा इस क़िस्म के अन्य आयोजनों के लिए करना भविष्य में मज़दूरों के संगठन के लिए प्रतिकूल परिस्थितियाँ तैयार कर सकता है। आम मज़दूर भी अब यह समझ रहे हैं कि घोटाले और ग़द्दारी के काम को सफलतापूर्वक अपने अंजाम तक पहुँचाने के लिए इन्होंने ईश्वर को ढाल की तरह इस्तेमाल करने की कोशिश की।

अपनी हरकतों से मज़दूरों के बीच उनकी असलियत पूरी तरह उजागर हो गयी। सभी मज़दूरों की आम सभा बुलाकर उनका भण्डाफोड़ किया गया। जो कुछ मज़दूर उनके झूठे प्रचार के प्रभाव में आ गये थे वे भी उनकी सच्चाई सामने आने के बाद उनसे अलग हो गये। यूनियन से मज़दूरों ने माँग की कि अवैध वसूली, गुण्डागर्दी और मज़दूरों के पैसे का गबन करने वाले इन तीनों ग़द्दारों को कारख़ाने से बाहर किया जाये। मालिक भला इसे क्यों मानता? आख़िर ये तिकड़ी उन्हीं पूँजीपतियों के इशारों पर ही तो नाच रही थी। लेकिन मज़दूरों के भारी दबाव और इस माँग को लेकर की गयी हड़ताल के बाद आख़िर 19 मार्च को उसे झुकना पड़ा और इन तीनों को बाहर का रास्ता दिखाना पड़ा।

मज़दूर आन्दोलन में इस क़िस्म का भितरघात कोई नयी बात नहीं है। यह पहले भी होता रहा है और आगे भी इसकी सम्भावनाएँ बनी रहेंगी। दरअसल आम मज़दूरों का दब्बूपन और संकीर्ण स्वार्थों में डूबे रहना ऐसे ग़द्दारों के लिए अनुकूल हालात पैदा करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। कई मज़दूरों में यह मनोवृत्ति काम करती है कि संगठन और आन्दोलन का काम नेताओं की ज़िम्मेदारी है। कभी-कभी वे नेताओं को ऐसे मोहरों की तरह देखने लगते है जिन्हें लड़ाकर मालिकों से ज़्यादा से ज़्यादा सुविधाएँ हासिल की जा सकें। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि अर्थव्यवस्था, राजनीति, इतिहास और मज़दूर आन्दोलन के अनुभवों की जानकारी न होने के कारण मज़दूरों को उन सम्बन्धों को समझने में कठिनाई होती होती है जो कि कारख़ानेदार, स्थानीय प्रशासन, नेताशाही तथा सरकारों के बीच परदे के पीछे काम कर रहे होते हैं। उन्हें लगता है कि यूनियन बना लेने मात्र से ही उनके सारे कष्ट मिट जायेंगे। लेकिन हक़ीकत इसके ठीक उलट है। जैसे ही मज़दूर ट्रेड यूनियन में क्रान्तिकारी ढंग से संगठित होने का शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त करने लगते हैं वैसे ही कारख़ानेदार तथा सभी मज़दूर विरोधी ताक़तें सबसे पहले उन्हें पतित तथा भ्रष्ट करने का काम करने में जुट जाती हैं। असफल हो जाने पर वे अन्य तरीकों से उनके संगठन को तोड़ने की योजनाएँ बनाने लगते हैं। आज बरगदवा के मज़दूरों के साथ भी यही हो रहा है। भविष्य इस पर निर्भर है कि व्यापक मज़दूर आबादी अपनी मुक्ति की विचारधारा को किस हद तक समझ पाती है।

अब चलो नयी शुरुआत करो!
मज़दूर मुक्ति की बात करो!!

1 मई को जन्तर-मन्तर चलो!

मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन–2011

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधीपुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006